त्योहार के मनाये जाने में भी भिन्नता आ जाती है। उत्तर भारत के दशहरा और दीपावली का सम्मिलित रूप बंगाल की दुर्गा-पूजा में दिखाई देता है। दिल्ली में दशहरा जिस ढंग से मनाया जाता है उससे कर्नाटक के दशहरा का रूप बहुत अंशों में भिन्न होता है।

पर्वों और त्योहारों के इतिहास में हमारे देश की संस्कृति और सभ्यता का इतिहास छिपा है। इनसे हमें अपनी परम्पराओं का ज्ञान होता है। ये पर्व हमें अपने इतिहास का स्मरण कराते हैं। पर्व के दिन हम नित्य प्रति के नियमित कार्य-कलाप से थोड़ी मुक्ति पा जाते हैं। पर्व के क्रिया-कलाप और समारोह एक नये वातावरण की सृष्टि कर देते हैं। उनमें तन्मय होकर हम नई उमंग और नये उत्साह का अनुभव करते हैं। छोटे-बड़े का भेद समाप्त हो जाता है। कोई पर्व हमें अपनी प्राचीन जीवन-मर्यादाओं का अनुभव कराता है तो कोई पर्व किसी महापुरुष के तप, त्याग और बलिदान की गाथाओं का स्मरण करा हमें प्रेरणा से भर देता है। हर पर्व हमारी जीवन-यात्रा के लिए कुछ-न-कुछ सम्बल लेकर आता है।

इस पुस्तक में प्रत्येक पर्व के वर्णन में पहले उसका ऐतिहासिक या जन-परम्परा-गत स्रोत दिया गया है; फिर उसके धार्मिक, नैतिक और सामाजिक तथा सांस्कृतिक महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। पर्वों के सहारे उनसे सम्बन्धित धर्मों की प्रधान विशेषताओं को भी निखारने का प्रयत्न किया गया है। सभी धर्म हमें बलिदान, त्याग, दया, शान्ति, सदाशयता, उपकार, उदारता और मानव की एकता का पाठ पढ़ाते हैं।

हमारे देश के लोग साल-भर में जितने पर्व और त्योहार मनाते हैं उतने पर्व और त्योहार संसार के और किसी देश में नहीं मनाये जाते। वास्तव में हमारे यहाँ तो हर दिन देश के किसी न किसी भाग में कोई-न-कोई पर्व मनाया जाता रहता है। सभी पर्वों का वर्णन करना असंभव-प्राय कार्य है। इस छोटी-सी पुस्तक में प्रयत्न किया गया है कि इससे इस विशाल देश के सभी प्रमुख पर्वों का संक्षिप्त परिचय मिल जाय।

एस० पी० उपाध्याय
(यू० जी० सी० प्रोफेसर, हिन्दी विभाग)
डी० एस० बी० कॉलेज
नैनीताल

क्रम

रामनवमी

रामनवमी हिन्दुओं का एक प्रिय पर्व है। यह पर्व श्री रामचन्द्र जी के जन्म के उपलक्ष्य में हर वर्ष चैत सुदी नवमी को मनाया जाता है। श्री रामचन्द्र जी का जन्म आज से हजारों साल पहले हुआ था। उनके पिता दशरथ अयोध्या के प्रतापी राजा थे। दशरथ के तीन रानियाँ थीं। बड़ी रानी कौशल्या से श्री राम का जन्म हुआ। मँझली रानी कैकेयी की कोख से भरत पैदा हुए और छोटी रानी सुमित्रा के गर्भ से लक्ष्मण और शत्रुघ्न ने जन्म लिया। बचपन से ही चारों भाइयों में बड़ा स्नेह था। उनकी बाल-लीलाएँ देखकर अयोध्या के नर-नारियों का मन आनन्द से भर जाता था। खेल में भी राम अपने छोटे भाइयों का बहुत ध्यान रखते थे। उन्हें प्रसन्न रखने के लिए वह अपना जीता हुआ दाँव भी हार जाते थे। उनके शील और प्रेम-भरे स्वभाव की भूरि-भूरि प्रशंसा सभी अयोध्यावासी करते थे। उनके शरीर पर अंकित लक्षणों को देखकर ज्योतिषियों ने भविष्यवाणी की थी कि वे दुष्टों का नाश कर संसार में धर्म का राज्य स्थापित करेंगे। राम अत्यन्त प्रतिभाशाली थे। छोटी अवस्था में ही उन्होंने सारी विद्याएँ प्राप्त कर ली थीं और धनुर्विद्या का भी उन्हें पूरा ज्ञान हो गया था।

राम अभी बालक थे कि एक दिन महाराज दशरथ की सभा में विश्वामित्र नाम के ऋषि आये। विश्वामित्र बड़े दुखी थे। उन दिनों राक्षसों के उपद्रव बहुत बढ़ गये थे। उनके उत्पातों के कारण ऋषि-मुनि अपने आश्रमों में शान्ति से रहने नहीं पा रहे थे। राक्षस उनकी तपस्या में विघ्न डालते और उनके यज्ञों का विध्वंस कर देते थे। ऋषियों-मुनियों की रक्षा करना राजा का धर्म था। तिस पर राम के बल और पराक्रम की कहानी चारों ओर फैलने लगी थी। विश्वामित्र ने दशरथ से माँग की कि ऋषियों के यज्ञों की रक्षा के लिए राम-लक्ष्मण को उनके साथ जाने दें। राजा ने ऋषि की बात मान ली।

राम-लक्ष्मण को साथ लेकर विश्वामित्र अपने आश्रम में वापस गये। रास्ते

में ताड़का नाम की राक्षसी मिली, वह क्रोध करके उनकी ओर दौड़ी। राम ने झट उसके प्राण ले लिए।

दूसरे दिन जब ऋषि यज्ञ करने लगे तो मारीच नाम का राक्षस अपने सहायकों के साथ वहाँ आ धमका। राम ने एक ही बाण से उसे समुद्र पार भेज दिया। फिर सुबाहु नाम का राक्षस आया। राम ने उसे भी मार गिराया। उनके भाई लक्ष्मण ने सुबाहु के दल के अन्य राक्षसों का सफाया कर दिया। राम-लक्ष्मण के पराक्रम को देखकर ऋषि बड़े प्रसन्न हुए। ऋषियों की दुर्दशा देखकर राम ने मन में निश्चय किया कि वह पृथ्वी पर से राक्षसों का नाश करके धर्म का मार्ग निष्कंटक करेंगे।

उसी समय समाचार मिला कि मिथिला के राजा जनक अपनी कन्या सीता के विवाह के लिए स्वयंवर का विधान कर रहे हैं। ऋषि विश्वामित्र के साथ राम और लक्ष्मण भी उस स्वयंवर-सभा में गये। वहाँ शिव का धनुष भंग करके राम ने जनक की प्रतिज्ञा पूरी की और सीता के साथ उनका विवाह हो गया। जनक ने अपनी तीन अन्य कन्याएँ राम के तीन अन्य भाइयों को व्याह दीं।

अयोध्या लौटने पर महाराज दशरथ ने राम को राज का भार सौंपकर स्वयं वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना चाहा। राज्याभिषेक की तैयारियाँ होने लगीं। चारों ओर आनन्द का वातावरण छा गया। किन्तु इसी समय कैकेयी की मति फिर गयी। उसने हठ किया कि राज्याभिषेक भरत का हो और राम को चौदह वर्ष का वनवास दिया जाय। महाराज दशरथ ने उसे बहुत समझाया पर कैकेयी अपने हठ पर अड़ी रही। दशरथ भी उसकी माँग पूरी करने को बाध्य थे। एक बार जब दशरथ कठिनाई में पड़ गये थे, कैकेयी ने उनकी मदद की थी। उस समय उससे बहुत प्रसन्न होकर उन्होंने उसे दो वर दिये थे और यह भी कहा था कि जब तुम्हारी इच्छा हो, ये वरदान माँग सकती हो।

कैकेयी का हठ देखकर दशरथ इसके लिए तैयार हो गये कि भरत को राजगद्दी दे दें, पर राम के वनवास की कल्पना भी उनके लिए असह्य थी। जब यह समाचार राम को मिला तो वह सहर्ष वन जाने को तैयार हो गये। सारी अयोध्या में हाहाकार मच गया। आनन्द का दृश्य अपार शोक में बदल गया। रामचन्द्र के साथ उनकी पत्नी सीता और अनुज लक्ष्मण भी वन जाने को तैयार हो गये।

राम, लक्ष्मण और सीता के वन जाने के थोड़े समय बाद ही उनके वियोग का दुख न सह सकने के कारण दशरथ का देहान्त हो गया। उस समय भरत अपने ननिहाल गये हुए थे। वापस आने पर जब उन्होंने सारा हाल सुना तो वह दुख के सागर में डूब गये। उन्होंने अपनी माता कैकेयी को बहुत खोटी-खरी सुनाई। फिर पूरे राज-परिवार और अयोध्यावासियों के साथ वह राम को लौटा लाने के लिए वन में गये। तब तक राम-लक्ष्मण-सीता प्रयाग होते हुए चित्रकूट पहुँच गये थे।

भरत और सभी माताओं के बहुत आग्रह करने पर भी राम पिता का वचन पूरा किये बिना अयोध्या लौटने को तैयार न हुए। भरत उनकी पादुका लेकर अयोध्या आये और उसे राजसिंहासन पर स्थापित कर राम के नाम पर राज-काज चलाने लगे।

सीता और लक्ष्मण के साथ राम कुछ समय तक चित्रकूट में रहे। वहाँ उन्होंने अत्रि ऋषि और उनकी पत्नी अनसूया के दर्शन करके उनके उपदेश सुने। चित्रकूट से आगे बढ़ने पर मार्ग में अनेक ऋषियों-मुनियों से भेंट करते हुए राम पंचवटी के जंगल में पहुँचे। वहीं गोदावरी के तट पर कुटी बनाकर वे रहने लगे। वहाँ की प्राकृतिक शोभा निराली थी। वहाँ अनेक प्रकार के पशु-पक्षी रहते थे। वन्य जातियाँ भी अनेक प्रकार की रहती थीं। सब से राम की मैत्री हो गयी। यहाँ तक कि पशु-पक्षी भी निडर होकर उनकी कुटी के पास आ जाते और सीता के हाथों से अपनी खुराक प्राप्त करते। गृद्धराज से भी राम की भेंट यहीं हुई। ऐसे प्राकृतिक वातावरण में राम-लक्ष्मण-सीता सुख और शान्ति के साथ समय बिताने लगे। दोनों भाई जंगल में नित्य आखेट को निकल जाते; वनवासी उनके लिए कंद-मूल-फल अपने आप दे जाते। सीता को अपनी छोटी कुटी में अयोध्या के राजभवन से भी अधिक सुख मिलता। पति की सेवा का अवसर पा वहअपने जीवन को धन्य समझतीं।

एक दिन शूर्पणखा नाम की राक्षसी आई। माया के बल से उसने सुन्दर रूप बना रखा था। वह राम से ब्याह करने का हठ करने लगी। दोनों भाइयों ने उसे समझाया, पर वह अड़ी रही। तब राम के संकेत पर लक्ष्मण ने उसकी नाक और कान काट दिये। शूर्पणखा का रूप महाभयानक हो उठा। विलाप करती हुई वह अपने भाई खर-दूषण के पास पहुँची। राक्षसों की अपार सेना ने राम पर चढ़ाई कर दी। परन्तु राम ने उसे परास्त कर दिया। तब शूर्पणखा रावण के दरबार में पहुँची और राक्षस जाति की दुर्दशा की कहानी उसे सुनाकर रुदन करने लगी। रावण राक्षसों का राजा था। उसने तुरन्त राम से बदला लेने का निश्चय किया। मारीच नाम के राक्षस को सोने के मृग का रूप धारण करवा के उसने राम की कुटी के पास भेजा। उस पर दृष्टि पड़ते ही सीता ने राम से उसका आखेट करने की प्रार्थना की। राम माया-मृग के पीछे पड़ गये। दूर जंगल में पहुँच कर उन्होंने उसे अपने बाण का निशाना बनाया। प्राण छोड़ते समय माया-मृग मारीच लक्ष्मण का नाम लेकर जोर से चिल्लाया। सीता ने यह आवाज सुनी तो उन्हें भय हुआ कि राम पर कोई आपदा आयी है और वह लक्ष्मण को बुला रहे हैं। हठ करके उन्होंने लक्ष्मण को राम की सहायता के लिए भेजा। इधर रावण भिखारी का रूप बनाकर सीता की कुटी के सामने प्रकट हुआ और भिक्षा माँगने लगा। जब सीता कुटी के बाहर आकर उसे भिक्षा देने लगी तो वह उनका अपहरण करके उन्हें अपनी राजधानी लंका ले गया।

वापस लौटने पर राम-लक्ष्मण ने कुटी खाली पायी। विलाप करते हुए वे सीता की खोज करने लगे। मार्ग में उन्हें अधमरा गृद्धराज मिला। उसने सीता-हरण की सारी कथा बतायी कि किस प्रकार रावण से सीता को छुड़ाने का उसने प्रयत्न किया। पर दुष्ट रावण उसे अधमरा बनाता हुआ सीता को चुराकर लंका ले गया है। राम ने गृद्धराज को सान्त्वना देकर स्वर्ग लोक भेजा और सीता की खोज में वे आगे बढ़े! ऋष्यमूक पर्वत पर उनकी मित्रता सुग्रीव वानर से हुई जो अपने बड़े भाई वालि के डर से वहाँ जा छिपा था। हनुमान सुग्रीव की सेवा में थे। उन्हीं ने यह मित्रता करायी। राम ने वालि को मारकर सुग्रीव की स्त्री और राज्य उसे वापस दिला दिया। सुग्रीव अपनी पूरी वानर सेना के साथ राम की सेवा में लग गया। सीता की खोज में चारों दिशाओं में दूत भेजे गये।

रावण ने सीता को लंका ले जाकर अशोक-वाटिका में रखा था। हनुमान वहाँ गये और सीता से भेंट की। उन्होंने अशोक-वाटिका को उजाड़ डाला। जब वह रावण के सामने पकड़कर ले जाये गये तो अपने को राम का दूत बताते हुए उनके पराक्रम की कहानी उन्होंने राक्षसराज को सुनायी। हनुमान ने उसे बहुत समझाया, पर रावण को समझ नहीं आयी। उल्टे उसने हनुमान को जिन्दा जला देने का हुक्म दिया। हनुमान का कुछ नहीं बिगड़ा, पर सोने की लंका जलकर राख हो गयी। हनुमान के वापस आने पर वानरों की सेना के साथ राम ने लंका पर आक्रमण करने का निश्चय किया। सागर पर सेतु बनाया गया और पूरी सेना पार हुई। राम ने रावण को अन्तिम बार समझाने के लिए अंगद को उसके दरबार में भेजा। पर रावण अपने हठ पर अड़ा रहा। अपने भाई विभीषण का कहना भी उसने नहीं सुना। अन्त में युद्ध हुआ। सारा राक्षस-कुल नष्ट हो गया। विभीषण को लंका का राज सौंपकर राम और लक्ष्मण सीता को साथ लेकर अयोध्या वापस आये। दुष्टों के संहार का उनका लक्ष्य पूरा हो गया था। इस बीच उनके वनवास के दिन भी पूरे हो गये थे।

अयोध्या लौटकर रामचन्द्र जी ने कई वर्ष तक राज किया। उनके शासन में प्रजा सब तरह से सुखी थी। अपराध, अन्याय या पाप का नाम भी नहीं था। प्रजा के मत का उन्हें सदैव ध्यान रहता था। उसके लिए उन्होंने अपनी स्त्री सीता तक का त्याग करके उन्हें वन में भिजवा दिया था। यह कथा सभी जानते हैं। राम की इसी प्रजावत्सलता के कारण उनका राज आदर्श माना जाता है। अब भी अच्छे शासन को राम-राज कहा जाता है।

रामचन्द्र जी के चरित्र का सुन्दर वर्णन गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'रामचरितमानस' में किया है। हर के हिन्दू घर में इस पुस्तक का पाठ होता है। बहुत से लोग इसका पाठ धर्म पुस्तक की तरह करते हैं। जीवन की सभी कठिनाइयों और समस्याओं का समाधान रामचरित में मिलता है, इसी से रामचन्द्र जी मर्यादा पुरुषोत्तम कहे गये हैं। उनके चरित का अनुकरण करने से

हमारा जीवन आदर्श बन सकता है।

हिन्दू मात्र के लिए रामचन्द्र प्रात:स्मरणीय समझे जाते हैं। हर साल चैत के महीने में उनके जन्म का उत्सव गाँव-गाँव में धूम-धाम के साथ मनाया जाता है। लोग नवरात्र-भर व्रत रखते हैं और रामनवमी के दिन राम की प्रतिमा का विशेष रूप से पूजन करते हैं। गाँव के बाहर बगीचों में मेले भी लगते हैं। रात में रामकथा पर नाटक होते हैं।

रामनवमी के दिन रामचन्द्र जी की जन्मभूमि अयोध्या में महान् उत्सव आयोजित होता है। उस दिन देश के कोने-कोने से रामभक्त वहाँ एकत्र होते हैं। पावन सरयू में स्नान करके वे उन स्थानों की परिक्रमा करते हैं जो रामचन्द्र जी के जीवन से सम्बन्धित हैं। स्थान-स्थान पर रामकथा होती है। दान-पुण्य के दृश्य चारों ओर दिखाई देते हैं। जो लोग अयोध्या नहीं पहुँच पाते वे अपने घरों में ही रामजन्म का उत्सव मनाते हैं। इस दिन नवरात्र व्रत की समाप्ति होती है। दिन-भर कथा-वार्ता के प्रसंग चलते रहते हैं। सायंकाल साधु-सन्तों को भोजन कराया जाता है।

रामनवमी का पर्व सात्विक जीवन का संदेश लेकर आता है।

रक्षाबन्धन

रक्षाबन्धन का पर्व प्रति वर्ष सावन की पूर्णिमा को मनाया जाता है। सावन श्रावण का ही दूसरा नाम है। इसलिए रक्षाबन्धन को श्रावणी भी कहते है। वास्तव में रक्षाबन्धन और श्रावणी अलग-अलग पर्व हैं। पर इनकी तिथि एक होने से दोनों को प्राय: एक ही पर्व मान लिया जाता है।

प्राचीन काल में हिन्दू समाज में वर्ण-व्यवस्था का बड़ा महत्व था। हर वर्ण का कार्य बँटा हुआ था। इसी तरह हर वर्ण का एक मुख्य पर्व भी माना जाता था। श्रावणी ब्राह्मणों का, दशहरा क्षत्रियों का, दीपावली वैश्यों का और होली शूद्रों का मुख्य पर्व मानने की प्रथा थी। अब न तो वर्ण-व्यवस्था का वह महत्त्व रह गया है और न पर्वों का इस तरह का विभाजन स्वीकार किया जाता है।

प्राचीन काल में ब्राह्मण श्रावणी के दिन पुराना यज्ञोपवीत या जनेऊ त्यागकर विधिपूर्वक नया यज्ञोपवीत धारण करते थे। यह बड़ा पवित्र कार्य माना जाता था। बस्ती से बाहर किसी जलाशय के तट पर पुरोहित व पण्डित के निर्देशन में शास्त्रीय विधि से यह संस्कार सम्पन्न होता था। इसे उपाकर्म कहते हैं। आजकल भी धार्मिक ब्राह्मण हर श्रावणी को उपाकर्म करते हैं। देश के कई भागों में यह पर्व बड़े उत्साह और तत्परता से मनाया जाता है।

प्राचीन काल में श्रावणी का दिन बालक की शिक्षा आरम्भ करने का दिन भी होता था। आठ वर्ष तक बालक माता की देख-रेख में पलता था। उसकी आठ वर्ष की आयु पूरी होते ही माता का उत्तरदायित्व समाप्त हुआ समझा जाता था और वह पिता पर आ पड़ता था। पिता बालक को योग्य गुरु के पास ले जाता था। बालक का गुरुकुल में प्रवेश उपनयन कहलाता था। उपनयन शब्द का अर्थ ही है गुरु के पास ले जाना। उपनयन एक पूरा संस्कार माना जाता था। शास्त्रीय विधि से वह सम्पन्न किया जाता था। यज्ञ और हवन के बाद गुरु

बालक को गायत्री-मंत्र का उपदेश देता था और उसे यज्ञोपवीत धारण कराता था। बालक गुरु के प्रति भक्ति और निष्ठा की शपथ लेता था। तत्पश्चात् ईश्वर और पूर्वजों का स्मरण करके वह विद्यार्जन में लगता था।

श्रावणी के दिन ही गुरुकुलों में एक और समारोह भी होता था। उसे समावर्त्तन समारोह कहते हैं। जो शिष्य अपनी शिक्षा पूरी कर चुके होते थे वे इस समारोह में भाग लेते थे। यह समारोह आजकल विश्वविद्यालयों में होने वाले दीक्षान्त-समारोह के समान था। समावर्त्तन समारोह में गुरु शिष्य को अच्छा गृहस्थ बनने का उपदेश देते थे और नये वस्त्रों से उन्हें सुशोभित करते थे। गुरु-दक्षिणा देकर और गुरु का आशीर्वाद प्राप्त करके शिष्य अपने घरों को लौट जाते थे।

अब परिस्थितियाँ बहुत बदल गयी हैं। अब श्रावणी के उपाकर्म, उपनयन और समावर्त्तन समारोहों के स्थान पर रक्षाबन्धन का ही प्रचलन अधिक है। रक्षाबन्धन को राखी का त्योहार या सलोनो भी कहते हैं। हिन्दू समाज के सभी वर्गों में इस त्योहार की मान्यता है। इस तिथि को बहिनें अपने भाइयों के हाथ में राखी बाँधती हैं। ब्राह्मण और पुरोहित लोग भी यजमानों और धनिकों के हाथ में राखी बाँधकर उनसे दक्षिणा प्राप्त करते हैं। रक्षाबन्धन के कई दिन पहले बाजारों में दुकानें तरह-तरह की राखियों से सज जाती हैं। लड़कियों की भीड़ की भीड़ राखियाँ चुनने और खरीदने में व्यस्त दिखायी देती है। रक्षाबन्धन के दिन जहां देखो वहाँ रंग-बिरंगी राखियों से भरी कलाइयाँ लिए लोग घूम रहे होते हैं। इस दिन घरों में विविध भाँति के व्यंजन भी बनते हैं। सेवई और पूड़ी बनाने का विशेष प्रचलन है।

रक्षाबन्धन की प्रथा कैसे चली? इस विषय में एक पौराणिक कथा प्रसिद्ध है। एक बार देवताओं और राक्षसों में भयानक युद्ध हुआ। राक्षसों की जीत होने लगी। इससे इन्द्र को बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने देवताओं के गुरु बृहस्पति को बुलवाया और उनसे उपाय पूछने लगे कि दानवों पर विजय कैसे प्राप्त हो सकती है। इन्द्र की सभा में उनकी पत्नी इन्द्राणी भी बैठी थीं। बृहस्पति के बोलने के पहले ही इन्द्राणी बोल उठीं। उन्होंने कहा—इसका उपाय मुझे मालूम है। उसे पूरा करते ही राक्षसों पर देवताओं की विजय निश्चित हो जायगी।

दूसरे दिन श्रावण की पूर्णिमा थी। इन्द्राणी ने एक रक्षा-कवच तैयार कराया और उसे इन्द्र के हाथ में बांधा। इस रक्षा-कवच के प्रभाव से इन्द्र ने दानवों पर विजय प्राप्त की। तभी से इसका महत्व माना जाता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि मन्त्र द्वारा पवित्र किये हुए रक्षा-कवच को जो व्यक्ति श्रावणी के दिन धारण करता है वह वर्ष-भर स्वस्थ और सुखी रहता है; उसे किसी तरह की व्याधि नहीं सताती। आजकल की राखी बांधने की प्रथा का मूल उद्गम

इसी पौराणिक कथा में है। अत्यन्त प्राचीन काल से यह प्रथा चली आयी है।

किसी स्त्री का किसी पुरुष के हाथ में राखी बाँधना उसे भाई बनाने के समान है। ऐसी स्थिति में पुरुष का कर्त्तव्य हो जाता है कि उस स्त्री को बहिन मानकर उसकी मर्यादा और सम्मान की रक्षा करे। ऐसी अनेक ऐतिहासिक कथाएँ मिलती हैं जिनमें स्त्रियों ने राखी बाँधकर या राखी भेजकर शत्रुओं या अपरिचित पुरुषों को भी अपना भाई बना लिया है और उनके द्वारा अपने सम्मान की रक्षा करायी है। इस सम्बन्ध में रानी कर्मवती और हुमायूँ की कहानी सर्व-प्रसिद्ध है। राखी भाई-बहिन के बीच पुनीत और स्नेहमय सम्बन्ध का प्रतीक बन गयी है। इसीलिए हर बहिन राखी के दिन की प्रतीक्षा बड़ी उत्कण्ठा से करती है। कवयित्री सुभद्राकुमारी चौहान की यह पंक्ति कितनी भावोद्रेकपूर्ण है :

आयी है राखी सुहायी है पूनो, बधायी उन्हें जिन्हें भाई मिले हैं।

कृष्ण जन्माष्टमी

कृष्ण जन्माष्टमी हिन्दुओं के प्रमुख त्योहारों में है। जैसाकि इसके नाम से ही प्रकट है, यह त्यौहार श्रीकृष्ण के जन्म-दिवस के उपलक्ष्य में मनाया जाता है। कृष्ण ईश्वर के अवतार माने जाते हैं। उनका जन्म भादों महीने के कृष्ण पक्ष की अष्टमी को हुआ था। वह बुधवार का दिन था; रोहिणी नक्षत्र था।

कृष्ण का जन्म विचित्र परिस्थितियों में हुआ था। उस समय कंस नाम का दुराचारी राजा मथुरा में राज कर रहा था। उसने अपने पिता उग्रसेन से बलपूर्वक गद्दी छीन ली थी। कंस का ससुर जरासंध मगध का राजा था। वह भी बड़ा अत्याचारी था। कंस को अपने ससुर का बड़ा भरोसा था। उसके बूते वह हर तरह की मनमानी करता था।

कंस के पिता उग्रसेन के छोटे भाई देवक की पुत्री देवकी वृन्दावन के वसुदेव को व्याही थी। कंस को वसुदेव से जितनी ईर्ष्या थी उतना ही भय भी था। ज्योतिषियों ने कंस को बता दिया था कि वसुदेव से देवकी को जो आठवीं सन्तान होगी उससे कंस का वध होगा। इस डर से कंस ने वसुदेव और देवकी को जेल में डाल रखा था। उसने देवकी के छः पुत्रों को जन्मते ही मार डाला था। सातवें गर्भ का डर से पात हो गया था। वसुदेव ने अपनी पहली स्त्री रोहिणी को, जो गर्भवती थीं, कंस के डर से पहले ही अपने मित्र नंद के घर गोकुल पहुँचा दिया था। वहाँ रोहिणी को एक पुत्र की प्राप्ति हुई जिसका नाम बलराम रखा गया।

जब देवकी को आठवीं सन्तान हुई उस समय घोर अँधेरी रात थी। मूसलधार वर्षा हो रही थी। जेल के पहरेदार वर्षा की शीतल वायु में निद्रामग्न थे। देवकी भी बेसुध थीं। वसुदेव ने उनकी गोद से शिशु को उठा लिया और अपार बढ़ी हुई यमुना को पार कर वह गोकुल जा पहुँचे। उसी समय वहाँ नन्द की स्त्री यशोदा को एक कन्या उत्पन्न हुई थी। यशोदा बेसुध पड़ी थीं। वसुदेव ने बालक को उनकी गोद में लिटाकर कन्या को उठा लिया और मथुरा वापस पहुँच

कर उसे देवकी की गोद में रख दिया।

उधर देवकी को आठवीं सन्तान होने का समाचार मिलते ही कंस जेल में जा पहुँचा। उसने बहिन की गोद में लेटी कन्या को छीन लिया और उसे पत्थर पर पटक दिया। पर वह कन्या तो शक्ति का अवतार थी। आकाश-मार्ग में जाते हुए वह बोली—'अरे दुष्ट कंस, मेरा वध तो तू क्या कर सकता है! हाँ, तेरा वध करने वाला कृष्ण जन्म ले चुका है। इस समय वह सुख से गोकुल में पल रहा है। शीघ्र ही वह तुझे तेरे पापों का मजा चखाएगा।'

शक्तिदेवी के मुख से यह भविष्यवाणी सुनकर कंस भय से काँप उठा। वह कृष्ण को मरवाने की तरकीबें सोचने लगा। उधर कृष्ण अपने बड़े भाई बलराम के साथ नन्द और यशोदा के लाड़-प्यार में पलकर बड़े होने लगे। उनकी बाल-लीलाओं को देखकर सारे गोकुल के लोग आनन्द में विभोर रहते। रात-दिन उछाह छाया रहता। कुछ बड़े होकर कृष्ण ग्वालों के लड़कों के साथ पास के वनों में गाएँ चराने जाने लगे। अपनी अवस्था के गोपों और गोपियों के साथ उनकी लीलाएँ देखने के लायक होतीं। बाँसुरी बजाने की कला में वे एक ही थे। उसकी मधुर तान पर ग्वाल-बाल मुग्ध हो जाते। गायें भी चरना भूलकर उनके पास चली आतीं। गोपियों के साथ जब वे रासनृत्य करने लगते तो सारी गोप-मण्डली चारों ओर इकट्ठी हो जाती और भाव-विभोर होकर नाचने लगती। इस प्रकार कृष्ण के कारण गोकुल में आनन्द के वातावरण की सृष्टि हो गयी थी।

बचपन में ही कृष्ण अद्भुत पराक्रम के कार्य भी करने लगे थे। गोकुल के पास यमुना के एक दल में कालिय नाग नाम का एक महा भयंकर अजगर रहता था। उसके भय से वहाँ न ग्वाले जाते थे और न गायें। कृष्ण ने कालिय नाग को मारकर सबको निर्भय बनाया। कितने ही बनैले बैलों को भी पछाड़कर उन्होंने अपने अपूर्व बल का परिचय दिया। गायों से कृष्ण को गाढ़ा प्रेम था। यह देखकर सारे गोकुलवासी गायों की पूजा करने लगे। ऐसा विश्वास है कि इन्द्र को यह बात बुरी लगी, क्योंकि गोकुलवासियों ने गायों के सामने इन्द्र की पूजा को भुला दिया। कुपित होकर इन्द्र ने ऐसी घोर वर्षा करायी कि सारा व्रज डूबने लगा। तब कृष्ण ने सभी नर-नारियों और गायों को गोवर्धन पर्वत के ऊपर पहुँचाकर उनकी रक्षा की। तभी से कहा जाता है कि कृष्ण ने गोवर्धन को अपनी उँगलियों पर उठा लिया था। कृष्ण के पराक्रम की इन कहानियों को सुन-सुनकर कंस के प्राण सूखने लगे थे। उनको मारने के लिए उसने कभी पूतना राक्षसी को भेजा तो कभी अघासुर राक्षस को। पर वे कृष्ण का कुछ न बिगाड़ सके; उल्टे कृष्ण ने उन्हें मृत्यु के घाट उतार दिया। कृष्ण की यह ख्याति चारों ओर फैलने लगी कि वे भगवान विष्णु के अवतार हैं।

इससे कंस और भी डर गया। अब उसने कृष्ण को मरवाने का अन्तिम उपाय रचा। मथुरा में उसने एक बड़ी मल्ल-युद्ध-प्रदर्शनी का आयोजन किया।

उसमें भाग लेने के लिए कृष्ण को बुलाने उसने अक्रूर को गोकुल भेजा। कंस की इस चाल से सभी गोकुलवासी सहम गये। परन्तु कृष्ण अपने बड़े भाई बलराम के साथ निर्भय होकर मथुरा गये। मार्ग में कंस के आदेश से उन पर कुवलयापीड़ नाम का मत्त हाथी छोड़ा गया, पर कृष्ण ने उसे पछाड़कर जमीन पर गिरा दिया। कंस के पास चाणूर और मुष्टिक नाम के दो बड़े बलवान मल्ल थे। कृष्ण को कुश्ती में उनके साथ भिड़ा दिया गया। कृष्ण ने इन मल्लों का भी सफाया कर दिया। यह देखकर कंस क्रोध में बड़बड़ाने लगा। कृष्ण ने उसकी चोटी पकड़ कर सिंहासन से नीचे गिरा दिया, इधर-उधर घसीटकर उसका मान-मर्दित किया और फिर उसके प्राण ले लिए।

अत्याचारी कंस का इस प्रकार अन्त करके कृष्ण ने उग्रसेन को फिर मथुरा की गद्दी पर बिठाया। अपने माता-पिता को उन्होंने जेल से मुक्त किया और उनके साथ मथुरा में ही रहने लगे। उनके संरक्षण में मथुरावासी सुख का अनुभव करने लगे।

उधर मगध के राजा जरासंध को जब कंस की मृत्यु और अपनी दो पुत्रियों के वैधव्य का समाचार मिला तो वह अत्यन्त क्रोधित हुआ। उसने सेना इकट्ठी करके झट मथुरा पर चढ़ाई कर दी। कृष्ण युद्ध नहीं करना चाहते थे। मथुरा छोड़कर वे दक्षिण की ओर चले गये। पर जरासंध ने वहाँ भी उनका पीछा किया। तब कृष्ण ने उसका सामना किया और युद्ध में उसे पराजय दी। हारकर जरासंध अपनी राजधानी लौट गया और कृष्ण मथुरा वापस चले गये।

मथुरा से थोड़े समय के लिए कृष्ण और बलराम उज्जयिनी गये। वहाँ सांदीपनि ऋषि के आश्रम में रहकर उन्होंने विद्याध्ययन किया। वे सारे शास्त्रों में पारंगत बन गये। शस्त्र-विद्या का भी उन्होंने विधिवत अभ्यास किया और धनुर्विद्या में सिद्धहस्त हो गये। यहीं पर उनकी मित्रता सुदामा नाम के ब्राह्मण से हुई।

फिर मथुरा लौटकर कृष्ण अपने सम्बन्धियों के साथ रहने लगे। उनके पिता की बहन कुन्ती हस्तिनापुर के राजा पाण्डु को ब्याही थी। पाण्डु वानप्रस्थ आश्रम में प्रविष्ट होकर हिमालय पर रहने लगे थे। उनकी मृत्यु होने पर कुन्ती अपने तीन पुत्रों, युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन को लेकर हस्तिनापुर लौट आयी थी। वहाँ धृतराष्ट्र राजा थे। कृष्ण ने अक्रूर के हाथ सन्देश भेजा कि उनके फुफेरे भाइयों का लालन-पालन ठीक से होना चाहिए।

चेदि देश के राजा की पत्नी भी कृष्ण की बुआ थी। लेकिन उसका पुत्र शिशुपाल कृष्ण से ईर्ष्या करता था। विदर्भ की राजकुमारी रुक्मिणी के स्वयंवर में कृष्ण ने शिशुपाल का मान-मर्दन किया।

मगध के राजा जरासंध ने कालयवन से संधि करके एक बार मथुरा पर फिर आक्रमण कर दिया। कृष्ण ने अपने बन्धु-बान्धवों सहित मथुरा छोड़ दिया।

वे द्वारिका चले गये। जरासंध ने वहाँ भी उनका पीछा किया। लेकिन उस विकट मार्ग में उसकी सेना नष्ट हो गयी और उसने फिर कृष्ण पर चढ़ाई करने का नाम नहीं लिया। सत्यभामा आदि कई अन्य राजकुमारियों से व्याह करके कृष्ण सुख-पूर्वक द्वारिका में रहने लगे।

किन्तु कृष्ण के फुफेरे भाइयों व पाण्डवों को चैन नहीं था। उनके विनाश की तरकीव में कौरव लगे थे। दुर्योधन चाहता था कि पाण्डवों का नाश हो जाय तो वह निष्कंटक राज करे। एक-एक करके वह अनेक षड्यन्त्र रच चुका था, परन्तु पाण्डवों का वाल भी वाँका नहीं कर सका था। अन्त में वाणावर्त के मेले में उसने पाण्डवों को लाक्षागृह में जला देने का जाल रचा। पर पाण्डव उससे भी वच निकले थे। इधर-उधर भटकते हुए वे पांचाल नरेश द्रुपद की कन्या द्रौपदी के स्वयंवर में काम्पिल्य नगर पहुँचे। वहाँ कृष्ण भी अपने पुत्र प्रद्युम्न के लिए राजकन्या प्राप्त करने की आशा में आये थे। कौरवों में से भी कुछ राजकुमार वहाँ आये थे। अर्जुन ने मत्स्य-भेद कर द्रौपदी को स्वयंवर में जीत लिया। कृष्ण अपने फफेरे भाइयों से मिलकर वड़े प्रसन्न हुए। धृतराष्ट्र ने पाण्डवों को आधा राज वाँट देने में ही कुशल देखा। दुर्योधन को समझाकर उन्होंने इसके लिए राजी किया और पाण्डवों को यमुना के किनारे का निर्जन खांडव वन दे दिया। पाण्डवों ने अपने पराक्रम से खांडव वन का जंगल जलाकर साफ कर डाला और उसे इन्द्र-प्रस्थ नाम दिया। वही आज की दिल्ली है।

पाण्डवों ने चारों ओर अपने राज्य का विस्तार किया। फिर उन्होंने कृष्ण की अनुमति से राजसूय-यज्ञ का संकल्प किया। यज्ञ हो, इसके पहले कृष्ण, अर्जुन और भीम मगध गये और जरासंध को मृत्यु के घाट लगाया। इसके वाद अर्जुन ने उत्तर, भीम ने पूर्व, सहदेव ने दक्षिण और नकुल ने पश्चिम की दिग्विजय करके सव राजाओं को युधिष्ठिर का वशवर्ती वना दिया। राजसूय यज्ञ में सभी दिशाओं के राजा आये। यज्ञ में सर्वश्रेष्ठ पुरुष की पूजा का प्रश्न आया तो भीष्म पितामह ने श्रीकृष्ण का नाम वताया। शिशुपाल से यह न सहा गया। वह कृष्ण को मारने दौड़ा। कृष्ण ने सुदर्शन चक्र से उसका सिर काट दिया। युधिष्ठिर भारत के सम्राट् पद पर अभिषिक्त हुए।

दुर्योधन को यह सव कुछ अच्छा नहीं लग रहा था। वह ईर्ष्या से जल रहा था। तिस पर ऐसे अवसर आये कि वह मूर्ख वनकर लोगों की हँसी का पात्र भी वना। पाण्डवों के राजभवन में संगमरमर से जड़े फर्श में उसे जल का धोखा हुआ और भीगने के डर से उसने कपड़े उठा लिए। आगे जल से पूर्ण स्थान को उसने स्फटिक से जड़ा फर्श समझा और उसमें अपने कपड़े भिगो लिए। यह देख पाण्डव और द्रौपदी सव हँस पड़े। दुर्योधन की ईर्ष्या की अग्नि में अपमान का ईंधन [illegible] था।

हस्तिनापुर लौटकर उसने पाण्डवों के विनाश का आयोजन किया। युधिष्ठिर को जुआ खेलने का बड़ा शौक था। दुर्योधन ने उन्हें जुआ खेलने का निमन्त्रण देकर हस्तिनापुर बुलवाया और छलपूर्वक उनका सब कुछ जीत लिया। युधिष्ठिर हारते ही गये—यहाँ तक कि वे अपने चारों भाइयों और द्रौपदी को भी हार गये। दुर्योधन ने भरी सभा में द्रौपदी का अपमान किया, उसका केश पकड़कर घसीटवाया और उसे वस्त्रहीन करवाना चाहा। भगवान ने उसकी लाज रखी।

जुआ आगे इस शर्त पर बढ़ा कि इस बार हारने पर पाण्डवों को बारह वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास भोगना पड़ेगा। युधिष्ठिर इस बार भी हार गये और अपना वचन पूरा करने के लिए पाण्डवों को वन जाना पड़ा। काम्यक वन को उन्होंने अपना निवास-स्थान बनाया। श्रीकृष्ण को पता लगा तो वे पाण्डवों से मिलने गये। उन दिनों कृष्ण भी इसी वन में योगाभ्यास करते हुए वानप्रस्थ की तैयारी कर रहे थे।

एक-एक करके पाण्डवों के वनवास के बारह वर्ष पूरे हुए और उनके अज्ञातवास का भी एक वर्ष किसी तरह बीत गया। तब वे राजा विराट की नगरी विराट नगर में प्रकट हुए। श्रीकृष्ण भी वहाँ आये हुए थे। उनकी उपस्थिति में विराट-नरेश की पुत्री उत्तरा का विवाह अभिमन्यु से हो गया। फिर कौरवों के पास यह संदेश भेजा गया कि वे पांडवों का आधा राज उन्हें लौटा दें। दुर्योधन ने कहा—यह नहीं हो सकता; पाण्डव समय से पहले ही प्रकट हो गये हैं। भीष्म पितामह ने दुर्योधन को बहुत समझाया पर उसकी मति ठिकाने नहीं आयी। पाण्डव अपना राज्य वापस लेने के लिए युद्ध की तैयारी में लग गये। उनके पास अपनी सेना तो रह नहीं गयी थी। द्रुपद और विराट ने अपनी सेनाएँ उन्हें दे दीं।

कृष्ण युद्ध बचाने के उद्देश्य से अन्तिम प्रयत्न करने स्वयं हस्तिनापुर गये। वे विदुर के साथ ठहरे, जहाँ कुन्ती रहती थी। कृष्ण के समझाने का भी दुर्योधन पर कोई असर नहीं हुआ। उसका दुराग्रह बाढ़ पर था। उसने कहा—बिना युद्ध के सुई की नोक बराबर भी पृथ्वी पाण्डवों को नहीं दूँगा।

निराश होकर कृष्ण लौट आये। कुरुक्षेत्र के मैदान में दोनों ओर की सेनाएँ एकत्र हुईं। १८ दिन तक घमासान युद्ध हुआ। इसे ही महाभारत का युद्ध कहते हैं। इस युद्ध में पाण्डवों की जीत हुई और कौरवों का सर्वनाश हो गया। पाण्डवों के पक्ष में न्याय था, उसके साथ ही उनके पक्ष में श्रीकृष्ण भी थे। युद्ध के मैदान में जब दोनों ओर भाई-बन्धुओं को देखकर अर्जुन मोह से ग्रसित हो गये थे और युद्ध का इरादा छोड़कर रथ के पीछे के भाग में जा बैठे थे तब श्रीकृष्ण ही अर्जुन के रथ के सारथी थे। उन्होंने ही उस समय अर्जुन को कर्त्तव्य का मार्ग बताया था। उसका सार यह है कि मनुष्य को फल का विचार किये बिना अपना कर्त्तव्य-पालन करना चाहिए। शरीर का मोह व्यर्थ है, मुख्य चीज तो आत्मा है

जो अजर और अमर है। कृष्ण का यह उपदेश महाभारत का सबसे महत्वपूर्ण अंश समझा जाता है। इसी का संग्रह श्री भगवद्गीता नाम से अलग ग्रंथ में कर दिया गया है—जिसका नित्य पाठ करने से हमें ज्ञान, कर्म और भक्ति सम्बन्धी अपूर्व शिक्षा मिल सकती है।

युद्ध में अर्जुन का पुत्र अभिमन्यु भी काम आया था। उस समय उसकी स्त्री उत्तरा गर्भवती थी। 'अभिमन्यु की मृत्यु के बाद उत्तरा को मृत पुत्र उत्पन्न हुआ। कृष्ण ने अपने योगबल और उपचार-कौशल से उसे जीवित कर दिया। पाण्डवों का परिक्षीण या विनाश की ओर जाता वंश उस बालक के कारण बच गया। इसलिए उसका नाम परीक्षित हुआ। पाण्डवों के वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करने पर परीक्षित भारत के राज्यसिंहासन पर बैठे।

हस्तिनापुर का राज्यसिंहासन पाण्डव-वंश के लिए सुरक्षित कर श्रीकृष्ण द्वारिका लौट गये। वहाँ वे अपने परिवार के साथ रहने लगे।

एक बार सरस्वती नदी के तट पर प्रभास तीर्थ में कृष्ण और बलराम के साथ कितने ही अन्य यदुवंशी इकट्ठे थे। स्त्रियाँ भी तीर्थ-यात्रा पर गयी थीं। उन दिनों जुआ और मद्यपान का खूब प्रचलन था। यदुवंशी भी इन दुर्गुणों से मुक्त नहीं थे। वहाँ की प्राकृतिक शोभा को देखकर वे आनन्द में मग्न हो उठे और द्यूत-क्रीड़ा में लग गये। मदिरा का दौर भी चलने लगा। फिर हार-जीत को लेकर वे आपस में लड़ने लगे। यह संघर्ष इस सीमा तक बढ़ा कि सब आपस में कट मरे। कृष्ण ने स्त्रियों को द्वारिका पहुँचा दिया और आप दोनों भाई वन में तप के लिए चले गये। बलराम ने योग बल से अपने प्राणों को शरीर से निकालकर स्वर्ग पहुँचा दिया। कृष्ण ब्रह्मासन लगाकर निद्रा में वहीं लेट गये। जरा नाम के एक व्याध ने दूर से उन्हें हरिण समझकर बाण चला दिया। बाण कृष्ण के पाँव में लगा और वहीं उनका देहान्त हो गया। उस समय उनकी अवस्था १२० वर्ष की थी। इस दुर्घटना का समाचार पाण्डवों को मिला तो अर्जुन हस्तिनापुर से द्वारिका गये और श्रीकृष्ण के परिवार के बालकों और विधवाओं को अपने साथ हस्तिनापुर ले आये। पाण्डवों ने अपनी पुरानी राजधानी इन्द्रप्रस्थ का राज्य श्रीकृष्ण के प्रपौत्र अनिरुद्ध के पुत्र वज्र को दे दिया। फिर हस्तिनापुर के राज्य सिंहासन पर अपने पौत्र परीक्षित को बैठाकर वे हिमालय में तपस्या के लिए चले गये।

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी का पर्व हर वर्ष हमें श्रीकृष्ण जी के पावन चरित्र और महान् कार्यों का स्मरण कराने के लिए आता है। उनका पूरा जीवन अत्याचारियों के विनाश और दुर्बलों और असहायों की रक्षा करने में बीता। उनके समय में देश में दुष्ट राजाओं की बाढ़-सी आ गयी थी। श्रीकृष्ण ने एक-एक करके सब को निर्मूल किया। न्याय और सत्य की रक्षा के लिए ही महाभारत का युद्ध हुआ। श्रीकृष्ण ने न्यायी पाण्डवों का साथ देकर कौरवों का सर्वनाश किया। उस

समय का समाज अनेक बुराइयों से पीड़ित था। जुआ खेलना और मदिरा पीना आम बात हो रही थी। स्त्रियों का स्थान भी समाज में गिरा हुआ था। श्रीकृष्ण ने इन सभी प्रकार की बुराइयों के निराकरण में अपनी पूरी शक्ति लगा दी। उन्होंने निष्काम कर्म का मार्ग बताकर समाज के सामने उच्च आदर्श की स्थापना की। अपने इन्हीं कार्यों के कारण वे भगवान के अवतार के रूप में पूजित होते हैं।

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी के कई दिन पहले से जन्मोत्सव की तैयारियाँ होने लगती हैं। हर हिन्दू घर में कृष्ण के जन्म की झाँकी सजाई जाती है। मन्दिरों में तो और भी वृहत् रूप में इसका आयोजन होता है। झाँकी सजाने वालों में होड़-सी लग जाती है कि किसकी झाँकी सबसे अच्छी होती है। जन्माष्टमी के दिन बाल-वृद्ध सभी निराहार व्रत रखते हैं। दिन-भर धूम-धाम रहती है। जहाँ देखो कृष्ण का गुणगान होता दिखायी देता है। कहीं श्रीमद्भगवत गीता का पाठ हो रहा है तो कहीं किसी विद्वान् का भाषण हो रहा है। कहीं रास-लीला की तैयारियाँ चल रही हैं तो कहीं कीर्तन-मण्डली श्रीकृष्ण के भजन में मग्न है।

आधी रात को मन्दिरों और घरों में पालने पर झूलती हुई शिशु कृष्ण की झाँकी पाने का समय आने पर दर्शकों की भीड़ चारों ओर से उमड़ती दिखाई देती है। उस समय कृष्ण-भक्तों का उत्साह देखने ही योग्य होता है। कृष्ण के जन्मोत्सव का गीत गाने में ही भक्त-जन रात बिता देते हैं।

विजयादशमी

विजयादशमी हिन्दुओं का प्रसिद्ध पर्व है। यह प्रति वर्ष क्वार सुदी दशमी को मनाया जाता है। इसीलिए इसका दूसरा नाम दशहरा भी है। क्वार महीने को आश्विन भी कहते हैं। चैत्र मास के शुक्ल पक्ष में रामचन्द्र जी की जन्म-तिथि के ठीक पहले जैसे नौ दिन का नवरात्र व्रत होता है उसी तरह क्वार के महीने में भी यह नवरात्र व्रत आता है और उसकी समाप्ति पर दूसरे दिन दशहरा को विजयादशमी पर्व मनाया जाता है।

हमारे देश में विजयादशमी के पर्व का इतिहास बहुत पुराना है। कोई निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि यह पर्व कब से मनाया जाता है। देखा जाय तो एक प्रकार से यह ऋतु-परिवर्तन की सूचना देने वाला पर्व भी प्रतीत होता है। यह पर्व बताता है कि वर्षा ऋतु बीत गई और सुहावनी शरद् ऋतु आ गई है। शरद् ऋतु के आते ही आकाश निर्मल हो जाता है। वर्षा की कीचड़ सूखने लगती है। जल से भर जाने के कारण जो मार्ग अवरुद्ध हो गये थे वे खुलने लगते हैं। घास-फूस की अधिकता का अन्त हो जाता है। किसान खेती के काम में लग जाते हैं। वर्षा के कारण रुके हुए व्यवसाय चलने लगते हैं। चारों ओर के क्रियाकलाप से एक नये जीवन का आभास होने लगता है। प्राचीन काल में इसी तिथि को क्षत्रिय राजा शस्त्रों की पूजा करके शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए निकलते थे।

विजयादशमी के पर्व से कई पौराणिक कथाएँ भी जुड़ी हैं। एक कथा यह है कि इसी तिथि को वीर पाण्डवों ने अन्यायी कौरवों पर विजय प्राप्त की थी। दूसरी कथा यह है कि इसी तिथि को देवताओं के राजा इन्द्र ने वृत्रासुर नाम के दैत्य को हराया था।

किन्तु इस समय सारे देश में जो विजयादशमी का पर्व मनाया जाता है उसके पीछे मान्यता यह है कि इसी तिथि को श्री रामचन्द्र जी ने राक्षस-राज रावण को पराजित करके उसका वध किया था और इस प्रकार एक बड़े अन्यायी

से संसार को मुक्त करके धर्म और न्याय की प्रतिष्ठा की थी। रामायण की कथा से हमारे देश का कोई ऐसा व्यक्ति नहीं होगा जो अच्छी तरह परिचित न होगा।

विजयादशमी के पर्व का सबसे बड़ा आकर्षण 'रामलीला' है। क्वाँर का शुक्ल पक्ष आरम्भ नहीं हुआ कि जगह-जगह रामलीला आरम्भ हो जाती है। पर सामान्य प्रथा यही है कि विजयादशमी के दस दिन पहले अर्थात् क्वार सुदी प्रथमा को रामलीला आरम्भ होती है और दशमी के दिन, रावण के वध के साथ, उसका अन्त होता है। कोई भारतीय ऐसा नहीं होगा जिसने कभी-न कभी और कहीं-न-कहीं रामलीला न देखी हो। राम की कथा का प्रचार हमारे ही देश में नहीं, बाहर के भी अनेक देशों में है। उन देशों में भी रामलीला के प्रदर्शन हर साल होते हैं। इस सिलसिले में इंडोनेशिया का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

हमारे देश में रामलीला का इतना प्रचार है कि छोटे-बड़े शहरों-नगरों के अतिरिक्त गाँवों में भी लोग बड़े उत्साह से उसका आयोजन करते हैं। नगरों के लोग चन्दा इकट्ठा करके रामलीला करने के लिए प्रसिद्ध रामलीला-मंडलियाँ बुलाते हैं तो गाँव के लोग स्वयं अभिनेता बनकर रामलीला करते हैं। बड़े नगरों में कई स्थानों पर एक साथ रामलीला होती है। ऐसी अवस्था में रामलीला-मंडलियों में प्रतिस्पर्द्धा की भावना जाग जाती है। भीड़ भी वहीं अधिक होती है जहाँ की रामलीला अच्छी होती है। रामलीला के दिनों में सिनेमा का बाजार कुछ ठंडा हो जाता है। जहाँ देखो रामलीला में दिखाये गये अभिनय पर टीका-टिप्पणी सुनाई देती है। राम-जन्म, सीता-स्वयंवर, लक्ष्मण-परशुराम-सम्वाद, सीता-हरण हनुमान द्वारा लंका दहन, लक्ष्मण-मेघनाद-युद्ध आदि के दिन तो दर्शकों की अपार भीड़ रामलीला-मण्डप में दिखाई देती है। जिस जगह की रामलीला का जितना ही नाम होता है वहाँ दूर-दूर से उतने ही अधिक दर्शक जमा होते हैं। सचमुच रामलीला के दिनों की चहल-पहल देखने ही लायक होती है। रात-भर दर्शकों का आना-जाना लगा रहता है।

रामलीला का प्रदर्शन प्रायः तुलसीदास जी के संसार-प्रसिद्ध ग्रन्थ 'राम-चरित मानस' के आधार पर होता है। मंच के एक किनारे बैठे व्यास जी, जहाँ हारमोनियम बजता रहता है, 'मानस' की पंक्तियाँ गाते जाते है और उन्हीं के अनुसार पात्र अभिनय करके कथा आगे बढ़ाते जाते है। अभिनय उत्कर्ष पर होता है तब व्यास जी मौन हो जाते हैं। जब अभिनय के बिना ही कथा को आगे बढ़ा देना होता है तब व्यास जी मानस की चुनी हुई पंक्तियों का पाठ करते हुए अपनी स्वर-माधुरी से ही दर्शक-मण्डली को श्रोता बनाकर उसे भाव-विभोर कर देते हैं। इस प्रकार किसी रामलीला की सफलता में व्यास जी का बड़ा महत्व होता है।

अंतिम दिन की रामलीला रंगमंच पर न होकर खुले मैदान में होती है जहाँ राम-रावण-युद्ध होता है और राम रावण का वध करते हैं। उसके तुरन्त बाद मृत रावण का पुतला जलाया जाता है। इस पुतले को बनाने में कई दिन

लगते हैं। जहाँ विजयादशमी का मेला होता है और अन्तिम दिन का राम-रावण-युद्ध होता है वहीं मैदान के एक वगल में रावण का पुतला वनाया जाता है। रावण का रूप जितना ही विशाल और विकराल होता है उतना ही वनाने वालों की प्रशंसा की जाती है। पुतला वनाने में कई मन लकड़ियाँ, वाँस की खपच्चियाँ और रंग-विरंगे कागज लग जाते हैं। कहीं-कहीं तो पुतले के अंग-प्रत्यंग में आतिश-वाजी का सामान भी भर देते हैं। फिर तो जलता हुआ रावण दर्शकों को दीपावली का आनन्द दे जाता है। कुछ स्थानों पर रावण के साथ कुंभकर्ण और मेघनाद के पुतले वनाने की भी प्रथा है।

यों तो रामलीला देश के गाँव-गाँव और हर छोटे-वड़े कस्वे और शहर-नगर में होती है, पर कुछ स्थानों की रामलीला वहुत प्रसिद्ध है। उत्तर प्रदेश में वाराणसी के पास रामनगर की रामलीला का वड़ा नाम है। रामनगर भूतपूर्व काशी-नरेश की राजधानी थी। काशी-नरेश ही यह रामलीला कराते थे। इसी तरह मैसूर का दशहरा भी कभी वहुत प्रसिद्ध था। वहाँ के महाराज इसका आयोजन कराते थे। राजा-महाराजाओं के न रह जाने से अव शायद रामनगर की लीला और मैसूर के दशहरे में वह वात न रह गई होगी। इस समय तो दिल्ली की रामलीला और दशहरा आगे वढ़े हैं। रामलीला-मैदान में जो रामलीला होती है उसे देखने के लिए लाखों की भीड़ जमा होती है। दशहरे के दिन विजयी श्री रामचन्द्र जी के मुकुट का दर्शन करने के लिए स्वयं भारत के राष्ट्रपति भी रामलीला मैदान में पधारते हैं।

विजयादशमी के दूसरे दिन भरत-मिलाप का उत्सव मनाया जाता है। उस दिन का वह दृश्य भी देखने लायक होता है जव नंगे पैरों भागते हुए भरत राम के चरणों पर गिर पड़ते हैं और गिरते हुए भाई को वीच में ही रोककर राम उन्हें अपनी विशाल भुजाओं में ले लेते हैं।

दुर्गापूजा

दुर्गा-पूजा बंगाल का मुख्य त्यौहार है। बंगाली लोग इसे पूजा भी कहते हैं। यह बंगाल का राष्ट्रीय उत्सव है जो क्वार के महीने में दस दिन तक मनाया जाता है और विजयादशमी के दिन समाप्त होता है। परन्तु रामलीला, राम-रावण-युद्ध या दशहरा जैसी कोई चीज इस उत्सव में नहीं होती। दुर्गा-पूजा में बंगाली-समाज दुर्गा देवी की मूर्ति बनाकर नौ दिन तक उसकी पूजा करते हैं और दशमी के दिन विधिवत् उस मूर्ति का प्रवाह करते हैं। दुर्गा-पूजा का आरम्भ क्वार शुक्ल प्रतिपदा को होता है और वह नौ दिन तक चलती रहती है। इस पूरे काल को नवरात्र कहते हैं। बंगाली लोग जिस दुर्गा की पूजा करते हैं वह सिंह पर सवार दस हाथों वाली महिषासुर-मर्दिनी देवी हैं। उनके दाएँ-बाएँ लक्ष्मी और सरस्वती व गणेश और कार्तिकेय रहते हैं। नीचे धरती पर बर्छी से छिदा महिषासुर पड़ा रहता है। दुष्ट महिषासुर का हनन करने वाली दुर्गा को बंगाल में महामाया भी कहते हैं। वह स्वयं भगवान की शक्ति-स्वरूपा हैं।

हिन्दुओं में ऐसी मान्यता है कि दुष्टों का दलन करने के लिए परमेश्वर समय-समय पर अवतार धारण करता है। कभी वह अपनी शक्ति को देवी या स्त्री-रूप में पृथ्वी पर भेजता है। सरस्वती, महालक्ष्मी, महाकाली, ये सभी ऐसी ही शक्तियां हैं। सरस्वती की आराधना विद्या-बुद्धि के लिए की जाती है तो लक्ष्मी की सुख-सम्पत्ति और धन-वैभव के लिए। परमेश्वर की शक्ति के ये दोनों रूप शान्तिमय हैं। महाकाली उस शक्ति का भयंकर रूप है। दुर्गा, चंडी आदि कई उसके दूसरे नाम भी हैं। दुष्टों को निर्मूल करने के लिए ही भगवान की शक्ति ऐसा रूप धारण करती है। दुर्गा रूप में भगवान की शक्ति क्यों अवतरित हुई, इसकी एक कथा है।

प्राचीन काल में महिषासुर नाम का एक बड़ा अत्याचारी राक्षस उत्पन्न हुआ था। उसने चारों ओर अपना आतंक फैला रखा था। देवता भी उससे भय-

भीत और दुखी थे, क्योंकि उसने इन्द्र का शासन अपने हाथ में ले लिया था। स्वर्ग पर उसी का राज्य था। इससे सारी सृष्टि में गड़बड़ी मच गई थी। देवताओं की बुद्धि भी चक्कर में पड़ गई थी कि इस अत्याचारी के शासन से कैसे मुक्ति मिले। अन्त में उन्हें एक उपाय सूझा। वे सब मिलकर ब्रह्मा, विष्णु और महेश के पास गये। देवताओं की करुण कहानी सुनकर उन तीनों को बड़ा क्रोध आया। उन्होंने अपनी-अपनी शक्ति का थोड़ा अंश देकर एक देवी का निर्माण किया। फिर हर प्रकार के शस्त्रों से सजाकर उन्होंने उसे महिषासुर का दमन करने के लिए भेजा। देवी का सामना होने पर महिषासुर युद्ध के लिए तैयार हो गया। घमासान युद्ध होने लगा। क्वार सुदी प्रतिपदा से नवमी तक यह युद्ध चलता रहा। अन्त में देवी ने महिषासुर को परास्त कर अपनी बर्छी से उसका शरीर छेद डाला। इस प्रकार संसार को उस अत्याचारी से मुक्ति मिली। देवी के उसी उपकार के बदले में हर साल नवरात्र के दिनों में महिषासुर-मर्दिनी के रूप में उनकी पूजा होती है।

यों तो नवरात्र में दुर्गा पाठ का महत्व सारे देश में माना जाता है। नवरात्र व्रत की भी प्रथा सारे देश में है। पर बंगाल में दुर्गा-पूजा का जो त्यौहार मनाया जाता है उसका रूप ही निराला होता है। कई शताब्दियों से यह प्रथा वहाँ चली आ रही है। कहते हैं आज से कई सौ वर्ष पहले इसका आरम्भ बंगाल के पाल और सेनवंशी राजपूत राजाओं ने किया था। क्षत्रिय राजा शक्ति के पूजक होते ही हैं। दुर्गा का अवतार भी क्षात्र-धर्म के लिए ही हुआ था। इसलिए क्षत्रियों में इस रूप की उपासना अधिक होती है। रक्त-पात और मरने-मारने से उन्हें भय नहीं होता। देवी की मूर्ति के सामने बकरों के बलिदान की प्रथा इसी से चली होगी। यह कोई अच्छी प्रथा नहीं थी कि सर्वशक्तिशालिनी देवी की मूर्ति के सामने निरपराध पशुओं की हत्या की जाय! प्रसन्नता की बात है कि यह प्रथा अब लगभग समाप्त हो गई है।

बंगाल में दुर्गा-पूजा की तैयारियाँ महीनों पहले से आरम्भ हो जाती हैं। सभी बंगाली परिवारों के लिए यह पूजा खर्च का सबसे बड़ा अवसर है। नये कपड़ों से लेकर घर की मरम्मत तक के काम इस अवसर पर होते हैं। हर वर्ग के लिए यह पूजा कमाई का भी अवसर लाती है। पुरोहित वर्ग अपनी पंडिताई से कमाता है तो तरह-तरह के कारीगर हाथ की कारीगरी से। बढ़ई पूजा का मण्डप बनाने में व्यस्त होते हैं तो कलाकार देवी की मूर्तियाँ सजाने में लगे होते हैं। नवरात्र-भर कार्यक्रमों की भीड़ लगी रहती है। महिलाएँ पूजा-पाठ में जुटी रहती हैं, पुरुष वस्तुएँ लाने और मिलने-मिलाने में व्यस्त होते हैं, बच्चों और युवकों को सांस्कृतिक कार्यक्रमों से फुर्सत नहीं मिलती।

नवरात्र के अन्तिम चार दिन तो बड़े धूम-धड़ाके के होते हैं। इन दिनों उत्सव का साज-बाज अपनी सीमा पर होता है। सामूहिक कार्यक्रमों का सिल-

सिला रात-दिन इस तरह चलता है कि मानो हर घर में बरात आई हुई है।—किसी को दम मारने की फुर्सत नहीं होती। जहाँ देखो 'यात्रा' का प्रदर्शन हो रहा है। यह बंगाल का अपना लोक-नृत्य है। दुर्गा-पूजा के अवसर पर प्रसन्नता से विह्वल नर-नारी बड़े उत्साह से इस नृत्य में भाग लेते हैं। जगह-जगह नाटक, संगीत और नृत्य की भी प्रतियोगिताएँ चलती हैं। कवि-सम्मेलन, कवि-दरबार और भाषण भी आयोजित किये जाते हैं। कीर्तन-मंडलियां रात-दिन अखण्ड कीर्तन में लगी होती हैं। ये सारे कार्यक्रम मुहल्ले-महल्ले में बने पंचायती मण्डपों में महिषासुर मर्दिनी देवी की प्रतिमा के सामने होते हैं। बंगाली लोग दुर्गा-पूजा के त्यौहार को पंचायती ढंग पर ही मानते हैं। इसे 'बारोआरी' अर्थात् सामुदायिक पूजा कहा जाता है। जहाँ भी दस-बीस बंगाली परिवार हों वहाँ दुर्गा-पूजा का उत्सव जरूर देखने को मिलेगा। बंगाल के बाहर अन्य स्थानों में भी दुर्गा-पूजा का आयोजन बंगाली लोग बड़े उत्साह से करते हैं। उत्तर-प्रदेश के वाराणसी, इलाहाबाद जैसे बड़े नगरों में, जहाँ बंगाली बड़ी संख्या में रहते हैं, दुर्गा-पूजा का दृश्य देखने योग्य होता है। बड़े नगरों में जहाँ कई स्थानों पर 'बारोआरी' होती है हर एक के खास कार्यक्रमों के लिए दिन निर्धारित होते हैं। उस दिन सारा बंगाली-समाज वहाँ एकत्र मिलता है। इस तरह दुर्गा के जितने मण्डप नगर में बने होते हैं, हर बंगाली बारी-बारी से सभी मण्डपों में हो आता है। यह क्रम सवेरे से आरम्भ होकर रात तक चलता रहता है। दिन में रंग-बिरंगी साड़ियों में सजी बंगाली महिलाएँ थालों में देवी का चढ़ावा लिये हुए झुंड की झुंड जाती दिखाई देती हैं। मण्डपों में हर समय भीड़ लगी रहती है। देवी की प्रतिमा के सामने हाथ जोड़े नर-नारियों का समूह कभी भी देखा जा सकता है। शाम होते ही नाटक, संगीत, नृत्य, भाषण आदि के कार्यक्रम आरम्भ हो जाते हैं। क्वार की नवमी तक यही क्रम रहता है।

विजयादशमी के दिन हर 'बारोआरी' से देवी की प्रतिमा का जुलूस गाजे-बाजे के साथ निकाला जाता है और किसी नदी में उसको विधिपूर्वक प्रवाहित किया जाता है।

दीपावली

दीपावली का त्यौहार हर साल कार्तिक मास की अमावस्या को मनाया जाता है। दीप-मालाओं से वातावरण को जगमग-जगमग करने वाला यह त्यौहार सबके लिए प्रसन्नता और आशा का संदेश लेकर आता है। इसका क्रम अमावस्या से दो दिन पहले धनतेरस को आरम्भ हो जाता है और अमावस्या के दो दिन बाद भैया-दूज तक चलता रहता है। इस प्रकार दीपावली की चहल-पहल पाँच दिन तक बनी रहती है।

दूसरे त्यौहारों की तरह दीपावली की उत्पत्ति से भी अनेक धार्मिक कथाएँ जुड़ गई हैं। पर वास्तव में वसन्त की भाँति दीपावली भी ऋतु-परिवर्तन को सूचित करने वाला त्यौहार है। यह वर्षा-ऋतु की समाप्ति की सूचना देता है। मानो दीपावली आकर हमसे कहती है—वर्षा ऋतु बीत गई है। आलस्य छोड़ो, उठो, अपने चारों ओर की सफाई करो, अपने काम-काज, पढ़ाई-लिखाई में जी-जान से जुट जाओ।

वर्षा ऋतु में जहाँ गर्मी से तपी पृथ्वी की प्यास बुझाती है, जल से पूरित कर उसे हरा-भरा बनाती है, वहाँ उससे अनेक प्रकार के कीट-पतंग, मच्छर और दूसरे जीव-जन्तु पैदा हो जाते हैं। कीचड़ और घास-फूस की अधिकता से रास्ते बंद हो जाते हैं। जगह-जगह कूड़ा-कबार के ढेर लग जाते हैं। उनके सड़ने से हवा दूषित होने लगती है। वर्षा अधिक हुई तो कच्चे मकानों का तो कहना ही क्या पक्के मकान तक टपकने लगते हैं। चारों ओर की सीलन व सड़ाँध से जी उकताने लगता है। बौछारों की चोटें खा-खाकर सुन्दर मकानों की दीवारें भी बदरंग हो जाती हैं। सारा कारोबार मन्द पड़ जाता है। सर्वत्र तन्द्रा और आलस्य का राज्य दिखाई देता है।

वर्षा ऋतु के जाते ही दृश्य बदलने लगता है। शरद के आगमन का आभास होने लगता है। लोग अपने घरों की सफाई और मरम्मत में लग जाते हैं। आस-

पास इकट्ठा हुए कूड़ों का ढेर गायब होने लगता है। कीचड़ सूख चलती है। घास-फूस की अधिकता समाप्त हो जाती है। खेती का काम ज़ोर पकड़ता है। किसान खेतों को जोतकर उनसे खर-पतवार निकालने में लग जाते हैं। क्वार की दशमी आते-आते खेत नई फसल की बोआई के लिए तैयार हो जाते हैं।—और उसके बीस दिन बाद दीपावली का पर्व आ जाता है।

दीपावली के पाँच दिन के कार्यक्रम में सबसे पहले धनतेरस आती है। इससे एक धार्मिक कथा जुड़ी है। धनतेरस को धन्वन्तरि-त्रयोदशी भी कहते हैं। प्रसिद्ध है कि देवताओं ने समुद्र का मंथन किया था। जिससे १४ रत्न प्रकट हुए थे। जब १३ रत्न निकल चुके तब १४वाँ रत्न अमृत कलश लेकर स्वयं धन्वन्तरि प्रकट हुए थे। अमृत-कलश के लिए देवताओं और राक्षसों में संघर्ष हुआ। राक्षसों को हराकर देवताओं ने अमृत-कलश को प्राप्त किया और उसके अमृत का पान कर अपने को अमर बनाया। तभी से धन्वन्तरि भगवान के अवतार माने जाने लगे।

जिस दिन धन्वन्तरि प्रकट हुए थे उस दिन कार्तिक की कृष्ण त्रयोदशी थी। इसलिए वह तिथि धन्वन्तत्रियोदशी के नाम से प्रसिद्ध हुई। उसे ही धन-तेरस भी कहते हैं। शरीर को स्वस्थ रखने का उपाय धन्वन्तरि ने मनुष्य को बताया। वही अमृत-कलश लाना हुआ। धन्वन्तरि के बताये स्वास्थ्य-रक्षा के नियम ही अमृत के समान हैं। उनका पालन कर हम दीर्घजीवी बन सकते हैं। इस पौरा-णिक कथा से यह शिक्षा भी मिलती है कि मनुष्य अपने परिश्रम से क्या नहीं कर सकता? धनवैभव की तो बात क्या, वह अमरत्व भी प्राप्त कर सकता है।

धनतेरस के दिन प्रत्येक हिन्दू-गृहस्थ के लिए आवश्यक है कि वह किसी-न-किसी प्रकार का नया धन प्राप्त करे। उस दिन लोग प्रायः नये बर्तन खरीदते हैं। बर्तनों की दुकानें कई दिन पहले से सजनी आरम्भ हो जाती हैं। धनतेरस के दिन इनके चारों ओर की भीड़ देखते ही बनती है। कपड़ों और मिठाइयों की खरीद भी खूब होती है। खील-बताशे ढेर के ढेर लगे दिखाई देते हैं। दुकानों पर खरीदने वालों की भीड़ सुबह से शाम तक लगी रहती है। अन्त में दीपावली के दिन पूजने के लिए लक्ष्मी, विष्णु भगवान और गणेश जी की मिट्टी की मूर्तियाँ लेकर लोग घर लौटते हैं। बड़ों के साथ उस दिन छोटे बच्चों का भी उत्साह और उल्लास दर्शनीय होता है। छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध, अमीर-गरीब सभी धनतेरस की तरंग में तरंगित दिखाई देते हैं। मानो लक्ष्मी के स्वागत की तैयारी में सभी उमंग से भरे हों।

धनतेरस के दूसरे दिन नरक-चतुर्दशी होती है। उस दिन घर और आस-पास की सफाई का काम ज़ोर पर होता है। सूर्यास्त होते ही गन्दे पानी की नालियों के किनारे, कूड़ा-कचरा फेंकने की जगहों और घूर पर दीपक जलाये जाते हैं। इससे इन स्थानों की हवा स्वच्छ होती है और रहे-सहे मच्छर तथा

कीड़े-मकोड़े नष्ट हो जाते हैं। इसे यम का दिया जलाना कहते हैं। भाव यह है कि यम को, जो मृत्यु का देव माना जाता है। गृहस्थ अपने घरों के आस-पास से विदा कर देते हैं। शरीर, घर और आस-पास की स्वच्छता रोग और असमय मृत्यु से बचने का सबसे अच्छा उपाय है। नरक चतुर्दशी हमें इसी बात का स्मरण कराने हर वर्ष आती है।

तब तीसरे दिन दीपावली का मुख्य पर्व मनाया जाता है। सवेरे से ही एक बार फिर घरों की सफाई का क्रम आरम्भ हो जाता है। गाँवों में, जहाँ प्रायः कच्चे मकान होते हैं, हर कमरा और आँगन गोबर से लीपा जाता है। किवाड़ों को धो-पोंछकर तेल या वार्निश से चमका देते हैं। पुराने मिट्टी के बर्तनों को बाहर निकालकर उनके स्थान पर नये बर्तन प्रयोग के लिए रख दिये जाते हैं। गाय-भैंस और बैलों के सींग तेल की तरी से चमक उठते हैं। छोटे बच्चे खील-बताशे खाते और बिखेरते भाँति-भाँति के मिट्टी के खिलौनों के साथ खुशी में विभोर दिखाई देते हैं। बहू-बेटियाँ सफाई से छुट्टी पाने पर नहा-धोकर भोजन-पकवान बनाने में लग जाती हैं तो बड़ी-बूढ़ी महिलाएँ शाम को दीपक जलाने के लिए रुई और नये कपड़े की बत्तियाँ पूरने बैठ जाती हैं। नगरों और कस्बों में जहाँ बिजली प्राप्त है लोग रंग-बिरंगे छोटे-छोटे बल्बों की झालरें, घरों के बरामदों और मुंडेरों से लटकाना आरंभ कर देते हैं। दिन कब बीत गया, इसका पता नहीं लगता।

संध्या आयी नहीं कि चारों ओर दीपकों की पंक्तियाँ जगमगा उठती हैं। हर घर का कोना-कोना प्रकाश की किरणों से विह्वल होकर हँसने लगता है। बिजली के बल्बों से प्रकाशित बड़े नगरों का तो कहना ही क्या, गाँवों की शोभा भी उस दिन निराली होती है। मिट्टी के छोटे-छोटे दीपों का पराक्रम उस दिन किसे नहीं मोह लेता। अमावस्या के घने अन्धकार को दूर भगाकर घर, बरामदा, चरनी, धूर, गोठ, कुआँ, देवालय, सर्वत्र जगमगाती हुई ये दीपमालाएँ गाँवों को कुछ समय के लिए मायापुरी बना देती हैं। उस दिन गाँव के बाहर भी निकलकर दृश्य देखने योग्य होता है। बोये खेत हँसते-से मिलते हैं; कारण, उनकी मेड़ों पर भी दीपकों की पंक्तियाँ जगमगाती रहती हैं, जिनके प्रकाश में से पृथ्वी के अन्दर से निकलते जौ-गेहूँ के अँखुओं को देखकर किसान का मन आह्लाद से भर जाता है। यही तो है किसान के लिए लक्ष्मी का प्रथम दर्शन!

जब तक किसान छोटे-बड़े बच्चों के साथ खेतों-खलियानों, जलाशयों-देवालयों में दीपक जलाकर घर लौटते हैं तब तक वहाँ लक्ष्मी-पूजन की तैयारियाँ पूरी हो गई रहती हैं। हिन्दू-समाज में लक्ष्मी धनधान्य, कल्याण और सौन्दर्य की प्रतिमा मानी जाती है। इनकी प्राप्ति के लिए दीपावली के दिन लक्ष्मी की पूजा अनिवार्य है। ऐसा विश्वास है कि दीपावली की रात लक्ष्मी उनके घरों में आती है जो उनके दर्शन के निमित्त जागते रहते हैं।

लक्ष्मी का पूजन घर की स्वामिनी द्वारा होता है। सुन्दर रंगीन साड़ी और

आभूषणों से सुसज्जित होकर घर की स्वामिनी लक्ष्मी, गणेश, विष्णु की नई प्रतिमाओं के सामने जगमगाते दीपकों के आलोक में बैठती है। उसके इर्द-गिर्द घर के सभी आबाल-वृद्ध श्रद्धा-भाव से भरकर बैठ जाते हैं। आरती के बीच मिष्ठान्न, फल-फूल और आभूषणों से भरा थाल भगवती लक्ष्मी को समर्पित किया जाता है, अगर-धूम और पुष्प-गन्ध से कमरा मह-मह हो उठता है। पूजा-अर्चा के बाद समवेत स्वर में लक्ष्मी की प्रार्थना के श्लोक या गीत गाये जाते हैं। प्राय: शंख-ध्वनि से विसर्जन होता है। तत्पश्चात प्रसाद बँटता है। फिर घर का हर सदस्य अपने-अपने इष्ट मन्त्रों को जगाता है। विद्यार्जन में लगे हुए बच्चे मां सरस्वती की आराधना करके अपनी पाठ्य-पुस्तकों का पारायण करते हैं।

दीपावली के दिन व्यवसायी वर्ग नई वही की पूजा करता है। इसके लिए सवेरे से ही तैयारियाँ आरम्भ हो जाती हैं। मित्रों-हितैषियों और सम्बन्धियों को आमंत्रित किया जाता है। पुरोहित या घर के स्वामी द्वारा लक्ष्मी का पूजन होता है। फिर नये वही खाते पर "श्री गणेशाय नम:", "श्री लक्ष्मी जी सदा सहाय" लिखते हैं और दीपकों से उठते प्रकाश तथा सुगन्ध-लहरियों के बीच नये व्यावसायिक वर्ष का लेखा-जोखा आरम्भ हो जाता है।

जब घरों के भीतर इस तरह लक्ष्मी के पूजन और आह्वान तथा तंत्र-मंत्र के जगाने और नये व्यावसायिक वर्ष के स्वागत का अनुष्ठान चलता होता है, ठीक उसी समय बाहर सड़कों और गलियों में पटाखों की पटापट और धाँय-धाँय से दिशाएँ प्रतिध्वनित होती रहती हैं। सारा आकाश आतिशबाजी से निकलते तरह-तरह के प्रकाशों से इन्द्रधनुषी शोभा से भर जाता है। दर्शकों के झुंड के झुंड रोशनी और आतिशबाजी का आनन्द लेने के लिए चारों ओर घूमते दिखाई देते हैं। आधी रात के बाद तक धूम-धाम का यह जगमगाता दृश्य बना रहता है।

जैसी तैयारी और जैसा उत्साह दीपावली के अवसर पर दिखाई देता है वैसा शायद किसी अन्य हिन्दू त्यौहार में नहीं मिलता। ऐसी मान्यता है कि रामचन्द्र जी रावण को पराजित कर जब अयोध्या लौटे तब इसी दीपावली के दिन उनका राज्याभिषेक हुआ था। उस दिन घर-घर में घी के दीपक जले थे। दीपावली उसी शुभ दिन की पुण्य स्मृति में मनाई जाती है।

सवेरा होते ही प्रसाद-वितरण का क्रम चल पड़ता है। हर घर से प्रसाद से भरी थालियां लिए लड़के-लड़कियां और नौकर निकलते दिखाई देते हैं। लगभग सारा दिन यह क्रम जारी रहता है। खील-बताशों से घर भर जाता है। छोटे बच्चे इन्हें खाने और बिखेरने में विशेष आनन्द लेते हैं। तरह-तरह के खिलौनों की शकल की रंग-बिरंगी चीनी की मिठाइयाँ भी हर एक के हाथ में दिखाई देती हैं। रात में जले मिट्टी के दीवों को इकट्ठा कर उनका ढेर लगाने में भी छोटे बच्चे बड़ा उत्साह दिखाते हैं।

दीपावली के बाद का यह दिन अन्नकूट पर्व का भी दिन होता है। इसे

गोवर्धन-पूजा भी कहते हैं। श्रीकृष्ण के कहने पर व्रज के निवासियों ने वर्षा के देवता इन्द्र की अवहेलना की थी। इससे इन्द्र कुपित हुआ था और घोर वर्षा करके उसने व्रजवासियों को नष्ट कर देना चाहा था। तब श्रीकृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को अँगुली पर छतरी की तरह उठा लिया था और उसके नीचे इकट्ठा होकर व्रजवासियों ने अपनी रक्षा की थी। यही नहीं; जब चारों ओर की पृथ्वी जलमय थी तब गोवर्धन ने व्रज की गायों के लिए अपने तन पर घास उगाकर उनके प्राण बचाये थे। इस उपकार के बदले में व्रजवासियों ने गोवर्धन की पूजा की थी। तभी से यह त्यौहार मनाया जाता है। अन्नकूट के दिन हर घर में पकवान बनते हैं और देवताओं की पूजा तथा दान-पुण्य से निवृत्त होकर लोग स्वादिष्ट भोजन का आनन्द लेते हैं।

दीपावली पर्व की समाप्ति भैयादूज से होती है। इस दिन भाई-बहनों का मिलन होता है। भाई बहन के घर जाता है और बहन मिष्ठान्न से भाई का स्वागत करती है। बहन के हाथ से बनाये गये विविध भाँति के व्यंजनों को खाकर भाई सन्तुष्ट होता है और अपनी कमाई का कुछ अंश बहन को दे आता है। इस तरह भाई-बहन का प्रेम-सूत्र प्रति वर्ष दृढ़ से दृढ़तर होता चलता है। कहीं-कहीं ऐसा भी होता है कि स्वयं बहिन भाई के यहाँ जाकर उसे अपने हाथ से मिष्ठान्न खिलाती है और उसकी कमाई में से अपना अंश प्राप्त करती है।

कहा जाता है कि इस दिन यमुना अपने भाई यम से मिलने गई थी। इसी उपलक्ष्य में भैयादूज का पर्व मनाया जाता है। इस दिन यमुना में स्नान का विशेष महत्व माना जाता है।

वसंत पंचमी

वसंत पंचमी ऋतु-परिवर्तन की सूचना लेकर आनेवाला पर्व है। यह हर साल माघ सुदी पंचमी को मनाया जाता है। हमारे देश में वर्ष-भर में छः ऋतुएँ होती हैं, अर्थात् हर ऋतु दो महीने की मानी जाती है। जेठ और आषाढ़ ग्रीष्म ऋतु के महीने हैं। उसके बाद सावन और भादों में वर्षा ऋतु होती है। शरद ऋतु की सुहावनी छटा क्वार और कार्तिक में दिखाई देती है। फिर अगहन और पूस में हेमन्त तथा माघ और फागुन में शिशिर ऋतु आती हैं। अन्त में शिशिर की ठिठुरन और कँपकँपी मिटाने के लिए वसंत ऋतु का आगमन होता है। चैत्र और बैसाख के महीने वसंत के महीने हैं।

प्रश्न हो सकता है कि जब चैत और बैसाख के महीने वसंत के महीने हैं तो वसंत पंचमी का पर्व चालीस दिन पहले ही, माघ सुदी पंचमी को क्यों मनाया जाता है। इस प्रश्न का एक उत्तर तो यह दिया जाता है कि सब ऋतुओं ने वसंत को अपना राजा मानकर अपने-अपने समय में से आठ-आठ दिन उसे भेंट कर दिए हैं। इस प्रकार पाँच ऋतुओं से वसंत को चालीस दिन मिल जाते हैं। उसका पदार्पण माघ सुदी पंचमी को ही मान लिया जाता है।

परन्तु इस प्रश्न का एक अधिक तर्कसंगत उत्तर भी है। देखा जाय तो ऋतुओं के आने के लक्षण पहले ही प्रकट होने लगते हैं। एक कहावत है कि 'एक मास ऋतु आगे धावै—आधा जेठ असाढ़ कहावै।' माघ का अन्त-आरम्भ होते ही प्रकृति का रूप बदलने लगता है। जाड़े की तेजी कम हो जाती है, धूप में गर्मी बढ़ चलती है। वृक्षों में नये पत्ते निकल आते हैं। अमराइयों में बौर दिखाई देने लगते हैं। कोकिल की काकली वातावरण में उमंग और मादकता भरने लगती है। पछुआ हवा के झोंके आने लगते हैं जिनमें झूमती हुई जौ-गेहूँ की बालियाँ किसान के मन में विचित्र प्रकार के आनन्द की हिलोरें उठाने लगती हैं। खेतों में फूली हुई सरसों से दिशाएँ पीले रंग में रंगी दिखाई देती हैं। चिड़ियों के कलरव और

भौंरों में गुंजार से भी एक नई ऋतु के आने की सूचना मिलने लगती है। यहाँ तक कि स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध सभी के मनोभाव भी बदल जाते हैं और हर प्राणी नये उत्साह, नई स्फूर्ति का अनुभव करने लगता है।

प्रकृति के अंग-प्रत्यंग में नये लक्षण प्रकट होकर जब शिशिर के अवसान की सूचना देने लगते हैं तब स्वाभाविक है कि नई ऋतु के अभिनन्दन के समारोह का आयोजन किया जाय। यों तो हर ऋतु का अपना महत्व है, परन्तु वसंत की तुलना में कोई ऋतु नहीं आती। ग्रीष्म ऋतु अपने प्रचंड ताप से संसार को झुलस देती है, वर्षा का पानी हर एक को चाहिए, परन्तु अपने साथ वह जो कीचड़, मच्छर-मक्खी, अनावश्यक घास-फूस की वृद्धि और यातायात की कठिनाइयाँ लाती है उनमें सभी को परेशानी हो जाती है। वर्षा के बाद आने वाली शरद ऋतु सुहावनी लगती है, इसलिए कि घर में बन्द रहने की घुटन समाप्त हो जाती है और लोगों को बाहर निकलकर अपने कामों में लगने का अवसर मिलता है। वैसे इस ऋतु में भी मक्खी-मच्छरों का राज बना रहता है, बीमारियों के आक्रमण होने लगते हैं और किसान के सामने समस्याओं का ढेर होता है। हेमन्त के आते ही चारों ओर वीरान-सा दिखाई देने लगता है। प्रकृति की दयनीय दशा पर तरस आता है। शिशिर तो जैसे शीत से ठिठुरकर सी-सी करके बिताने का समय होता है। ऋतुओं में केवल वसंत ऋतु ही एक ऐसी ऋतु है जो अपने में सभी ऋतुओं के अच्छे प्रभावों और गुणों का सर्वोत्तम अंश लिए हुए आती है। उसमें न तो अधिक गर्मी होती हैं, न अधिक सर्दी और न वर्षा से मिलने वाला कोई कष्ट। वसंत ऋतु मध्यम ऋतु है। उसमें कोई 'अति' नहीं है। यदि उसमें कभी किसी चीज़ की 'अति' होती भी है तो वह आनन्द की 'अति' है। किसान के लिए तो इससे अधिक आनन्ददायिनी कोई ऋतु होती ही नहीं। इस समय खेतों में रबी की फसल पकने को तैयार होती है और उधर आम के बगीचों में बौर दिखाई देने लगते हैं। किसान के लिए यह दूसरी फसल की तैयारी की सूचना है। उसकी जीविका का तो सहारा ही कहा गया है—आधी खेती, आधी बारी। जीविका का दोहरा सहारा पाकर किसे खुशी नहीं होगी? वसंत ऋतु के ऋतुराज कहलाने का यही रहस्य है।

वसंत पंचमी का पर्व मनाने की सर्वमान्य विधि यही है कि उस दिन नई फसल का नया अन्न ग्रहण किया जाता है और पीले वस्त्र पहनकर आनन्दोत्सव और मनोरंजन के कार्यक्रमों में भाग लिया जाता है। यह व्रत रखने का पर्व नहीं है और न इस दिन दान-दक्षिणा देने वा कथा-पुराण सुनने का विधान है। खेतों में खड़ी फसल से अधपके जौ-गेहूँ के पौधे उखाड़कर लाते हैं और उन्हें इष्टदेव को अर्पित करते हैं। आम की मंजरी भी चढ़ाई जाती है। फिर सभी प्रकार के नये अन्नों को आग में झौंसकर घी, गुड़ के साथ मिलाकर कूट देते हैं जिससे सुस्वाद्य खाद्य बन जाता है। उस दिन से किसान के घर में नये अन्न का प्रवेश हो जाता

है। इसीलिए वसंत नवान्नेष्टि या शस्येष्टि का पर्व कहलाता है।

वसंत पंचमी का एक नाम श्री पंचमी भी है। इस दिन, विशेषकर नगरों में, सरस्वती-पूजन के समारोह होते हैं। जगह-जगह सरस्वती के मण्डप सजाये जाते हैं जिन्हें देखकर दुर्गा-पूजा के दिनों का स्मरण हो आता है जब जहाँ देखो वहीं महिषासुरमर्दिनी दुर्गा के मण्डप सजे होते हैं। सरस्वती विद्या की देवी है। जो लोग वसंत पंचमी को सरस्वती पूजन करते हैं वे सवेरे से ही स्नान आदि नित्य कर्मों के बाद उनकी आराधना में लग जाते हैं। सार्वजनिक मण्डपों की ओर जिनके अन्दर मंच पर वीणा-पुस्तक-धारणी सरस्वती की प्रतिमा सजी होती है झुंड के झुंड लोग जाते दिखाई देते हैं। अपने घरों में भी लोग सरस्वती देवी की मूर्ति सजाते हैं और विविध भाँति से उनकी पूजा करते हैं। गायन-वादन के कार्यक्रम भी होते हैं।

कहीं-कहीं वसंत पंचमी के दिन लक्ष्मी सहित भगवान् विष्णु की पूजा होती है। इस दिन को कुछ लोग कामदेव की पूजा का भी दिन मानते हैं। कामदेव सुन्दरता का देवता है। कहते हैं कामदेव की वसंत से घनिष्ठ मित्रता है। इसलिए वसंतागम के अवसर पर उसकी पूजा होनी ही चाहिए। कामदेव से दाम्पत्य जीवन को सुख और आनन्दमय बनाने की प्रार्थना की जाती है।

वसंत के दिन वसंती या पीतवर्ण के वस्त्र पहनना अनिवार्य माना जाता है। वसंत की मीठी धूप में पीले कपड़े पहनकर महकते हुए बाग-बगीचों अथवा पकती हुई फसल वाले खेतों के इर्द-गिर्द घूमना बहुत अच्छा लगता है। इस दिन बच्चों की क्रीड़ा-प्रतियोगिता के भी कार्यक्रम रखे जाते हैं। कविगोष्ठियाँ आयोजित की जाती है जिनमें प्रायः वसंत की शोभा पर कविताए सुनाई जाती हैं। संगीत के भी कार्यक्रम होते हैं।

वसंत के दिन से ही होली की तैयारी शुरू हो जाती है। निश्चित स्थानों पर रेंड के पेड़ गाड़ दिये जाते हैं और उनके चारों ओर होलिका रूप धारण करने लगती है। छोटे बच्चों और उत्पाती किशोरों के लिए व्यस्तता के दिन आ जाते हैं। सन्ध्या हुई नहीं कि इधर-उधर से डाल-पात और घास-फूस लाकर होलिका का आकार बनाने में लग जाते हैं। पास-पड़ोस के लोगों को हमेशा चौकन्ना रहना पड़ता है। गांवों में फूस के छप्पर तक उठाकर उत्पाती युवक होलिका में डाल देते है। नगरों में बँगलों के फाटक से लेकर सड़क के किनारे के सुन्दर छोटे पौधे तक समूल उखाड़कर होलिका को न्यौछावर कर दिये जाते हैं। हर गांव, महल्ले के बालकों की यही कोशिश होती है कि उनकी होलिका ऊँचाई और मोटाई में सबसे बढ़ जाय। होलिका-दहन के एक दिन पहले तक यह प्रतिस्पर्धा चलती रहती है। जिस दिन होली जलती है उसके दूसरे दिन रंगोत्सव होता है और उसी दिन वसंत का पहला महीना चैत्र आरम्भ हो जाता है।

शिवरात्रि

शिवरात्रि शिव के भक्तों का पर्व है। हर महीने की कृष्ण चतुर्दशी शिव की उपासना की तिथि मानी जाती है। पर फागुन कृष्ण चतुर्दशी का दिनशिव के भक्तों के लिए विशेष महत्व रखता है। इसी दिन को शिवरात्रि या महाशिवरात्रि का पर्व मनाया जाता है। कुछ स्थानों में चतुर्दशी के एक दिन पहले ही शिवरात्रि की मान्यता है। उसे 'शिव तेरस' कहते हैं। कहीं-कहीं शिवरात्रि फागुन के बदले माघ महीने में मनाई जाती है।

शिवरात्रि पर्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह शिव की उपासना में व्रत रखने का पर्व है। इसमें रात्रि-भर जागरण का बहुत महत्व माना जाता है। कदाचित् इसीलिए इसका यह नाम पड़ा। इस सम्बन्ध में आर्य-समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द के जीवन की घटना का स्मरण हो जाता है। बालक दयानन्द अपने पिता के साथ शिवालय में रात्रि-जागरण कर रहे थे जब शिवलिंग के ऊपर चूहे की उछल-कूद देखकर उन्हें मूर्ति-पूजा के विरुद्ध ज्ञान हुआ था। पर यहाँ स्मरण रखने की बात यह है कि हिन्दू-मन्दिरों में जो मूर्तियाँ स्थापित होती हैं उन्हें ईश्वर मानकर पूजा करना उद्देश्य नहीं है। मूर्तियाँ तो ध्यान केन्द्रित करने का साधन-मात्र हैं, मन्दिर, मस्जिद या गिरजा नाम से जो उपासना-गृह बनाये जाते हैं उनके पीछे भी तो उद्देश्य यही होता है कि वहाँ एकान्त में, शान्ति के वातावरण में, हम अपने मन को ईश्वर के ध्यान में लगा सकते हैं। हिन्दुओं ने मन को एकाग्र करने के लिए एक कदम और आगे बढ़कर मूर्तियों का सहारा लिया; उसके पीछे यह भावना कभी नहीं थी कि मूर्ति ही ईश्वर है। वैसे हिन्दू यह मानते हैं कि सृष्टि के कण-कण में ईश्वर का वास है। कुछ अन्य धर्मों के लोग ऐसा नहीं मानते; वे ईश्वर को संसार से अलग मानते हैं।

शिवरात्रि को निर्जल और निराहार व्रत सर्वोत्तम माना जाता है। व्रत रखने वाले पूरा दिन शिव के ध्यान में बिताते हैं। शिवालयों में शिव-लिंग पर

धतूरे और मदार के पुष्प, वेलपत्र, चंदन, अक्षत और ईख की गंडेरी का चढ़ाना सवेरे से ही आरम्भ हो जाता है। ज्यों-ज्यों दिन ढलता है, शिव-भक्तों की भीड़ बढ़ती जाती है 'बम-बम महादेव शिव शम्भु' के नारों से वातावरण गूँजने लगता है। शिवालय के चारों ओर बैठे भक्त-जन शिव की स्तुति में तरह-तरह के स्तोत्रों का पाठ करते दिखाई देते हैं। शिवरात्रि के दिन सवेरे से लेकर रात-भर यह क्रम चलता रहता है।

शिव औढरदानी या आशुतोष कहलाते हैं जिसका तात्पर्य यह है कि वे बहुत शीघ्र प्रसन्न होकर अपने भक्तों की मनोकामना पूरी करते हैं। उनके कई रूप हैं जिनमें रुद्र का रूप बहुत भयंकर माना जाता है। शिवरात्रि के दिन उनके शांत और सौम्य रूप शिव की ही उपासना की जाती है। उनकी शरण में कोई भी जा सकता है। वहाँ ऊँच-नीच छुआछूत का कोई भेद-भाव नहीं है। राम और कृष्ण के उपासकों की तरह ही हिन्दू-समाज में शिव-भक्तों की भी संख्या बहुत बड़ी है। हर वर्ग में शिव के उपासक मिलते हैं। शिव ईश्वर की तीन शक्तियों में से एक शक्ति हैं। ब्रह्मा के रूप में ईश्वर सृष्टि की रचना करता है, विष्णु के रूप में वह सृष्टि का पालन करता है और रुद्र का रूप धारण करके वह सृष्टि का संहार करता है। प्रलय-काल में ही रुद्र के इस भयंकर रूप की कल्पना की गई है। शेष समय में वे शिव या कल्याणकारी रूप में विराजते हैं। शिवरात्रि के व्रत के दिन भक्तजन इसी रूप का ध्यान करते हैं जिससे जीवन में उन्हें शान्ति और सुख प्राप्त हो।

शिवरात्रि का यह पर्व कब से मनाया जाता है, इसे बताना सम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध में पुराणों में एक कथा आती है, उसे जरूर जान लेना चाहिए। इस कथा से शिव की उपासना का माहात्म्य स्वयं-सिद्ध है।

एक बार एक आखेटक वन में शिकार के लिए गया। वह दिन फागुन बदी चतुर्दशी का दिन था। मार्ग में एक शिव-मन्दिर था। उस मन्दिर में बैठा एक शिवभक्त शिव की वंदना में स्तोत्र-पाठ कर रहा था। आखेटक को प्रार्थना का यह स्वर बहुत अच्छा लगा। वह भी 'बम-बम महादेव शिव शम्भू' जैसे प्रार्थना-वाक्य दुहराता हुआ आगे बढ़ा। वह भाव-विभोर हो गया। कुछ दूर पर उसे एक जला-शय मिला। उसके किनारे एक बेल का वृक्ष था। आखेटक ने सोचा—यहाँ कोई न कोई पशु पानी पीने के लिए अवश्य आयेगा, तभी शिकार का अवसर भी हाथ आयेगा। वह बेल के वृक्ष पर चढ़ गया और उसकी शाखाओं में छिपकर बैठ गया और किसी जानवर के आने की प्रतीक्षा करने लगा।

बेल-वृक्ष पर बैठा आखेटक क्या करे? वह उसके पत्ते तोड़-तोड़कर नीचे गिराने लगा। जहाँ वह बैठा था उसके ठीक नीचे शिवलिंग स्थापित था। जो बेलपत्र आखेटक गिराता था वे सब शिवलिंग के ऊपर पड़ते थे। धीरे-धीरे शिवलिंग बेल-पत्रों से ढक गया। अनजान में ही आखेटक शिव का उपासक बन गया। संयोग की बात कि वहाँ दिन-भर कोई पशु पानी पीने के लिए नहीं आया और आखेटक को

सारा दिन निर्जल और निराहार बिताना पड़ा। इस प्रकार अनजान में ही उसका व्रत भी हो गया।

रात हो गई, फिर भी आखेटक बेल के वृक्ष पर बैठा रहा। खाली हाथ जाये तो कहां जाये ? दिन-भर की भूख-प्यास ने उसके शरीर को शिथिल बना दिया था। लेकिन उसका मन जैसे शान्ति के सागर में स्नान करके निर्मल हो रहा था। उसी समय एक गर्भिणी हरिणी तालाब में पानी पीने के लिए आती हुई दिखाई पड़ी। आखेटक प्रसन्न हो उठा। उसने हरिणी को मारने के लिए बाण धनुष पर चढ़ाया। हरिणी की दृष्टि आखेटक पर गई। वह तुरन्त बोली—आखेटक, जरा ठहर जा। मुझे इस तरह मत मार। मेरा गर्भ पूरा हो चुका है। एक साथ कई जीवों को मारने का पाप क्यों लेता है ? मैं वादा करती हूँ कि घर जाकर अपने बच्चों को जन्म देकर और उन्हें उनके पिता को सौंपकर, मैं तेरे पास वापस आ जाऊँगी। फिर मेरा वध करके तू अपनी भूख मिटा लेना। मैं विश्वासघात नहीं करूँगी; मैं सच कहती हूँ।

हरिणी की बात का आखेटक के मन पर सहज प्रभाव हुआ; उसका हृदय करुणा और सहानुभूति से भर गया था। उसने हरिणी को जाने दिया। बेल-वृक्ष पर बैठा वह उसके लौटने की प्रतीक्षा करने लगा। पल-पल करके रात बीतने लगी। रात्रि-जागरण से आखेटक के मन की दशा बदलने लगी। उसे अपने व्यवसाय से ग्लानि होने लगी। वह सोचता जाता था और बेलपत्र तोड़-तोड़कर गिराता जाता था जो नीचे जाकर शिवलिंग पर अर्पित होते जाते थे।

जब एक पहर रात शेष रह गई तो आखेटक ने देखा कि वही हरिणी उसकी ओर मन्द गति से चली आ रही है। उसके पीछे उसके कई छोटे-छोटे बच्चे थे। बच्चों के पीछे हरिण था। हरिणी आखेटक को सम्बोधित करके बोली—अपने वादे के अनुसार मैं आ गई हूँ। हरिण भी मेरे साथ है, मुझसे अलग रहकर जीवित रहने के लिए वह तैयार नहीं है। जब हम दोनों नहीं रहेंगे तो हमारे ये नन्हे-मुन्ने बच्चे किसकी शरण जायेंगे। इसलिए हे आखेटक, मेरे पूरे परिवार का वध करके तू अपनी भूख मिटा ले। हम सब तेरे बाणों का लक्ष्य बनने को तैयार हैं।

हरिणी की बात सुनकर आखेटक का मन व्यथा से भर गया। उसका हृदय दया और सहानुभूति के सागर में डूब गया। उसके हाथ से छूटकर धनुष-बाण नीचे गिर पड़ा। उसके जीवन का मार्ग बदल गया। उसने हरिणी और उसके परिवार को अभय-दान दिया। बेलवृक्ष से नीचे उतरकर आखेटक ने देखा, वहाँ शिव का एक गण रथ लिए तैयार था। आखेटक की उपासना से उसके हृदय में उत्पन्न जीव-दया से शिवजी बहुत प्रसन्न हो गए थे। उन्होंने उसे अपना लोक देने का निर्णय कर लिया था। साथ ही हरिणी पर भी वे अपार प्रसन्न थे जिसकी मधुर वाणी और सत्यनिष्ठा ने आखेटक का हृदय परिवर्तित कर दिया था।

शिव के रथ पर बैठकर आखेटक, हरिणी, हरिण और उसके बच्चे, सभी शिवलोक को चले गए। कहते हैं वह हरिणी ही रात के आकाश में मृग-नक्षत्र के रूप में दिखाई देती है और वह आखेटक उसका प्रकाश बनकर चमकता है।

इस कथा से सिद्ध होता है कि शिव की उपासना की महिमा अपार है।

होली

होली हमारे देश का बहुत पुराना पर्व है। इसमें नाच-गान के साथ रंगों की भरमार होती है। इससे इसका नाम रंगोत्सव भी पड़ गया है जो उचित ही लगता है। होली का पर्व कब और कैसे आरम्भ हुआ, इस विषय में कई मत हैं। एक मत यह है कि यह नये वर्ष के आगमन की सूचना देने वाला पर्व है। फागुन का महीना बीतते-बीतते जाड़े का अन्त हो जाता है। बसंत की शोभा अपने चरम उत्कर्ष पर होती है। चारों ओर प्रकृति की सुषमा देखने योग्य होती है। बौरे हुए आम के बगीचों में कूकती हुई कोकिला का स्वर हरएक के मन में आनन्द की लहरें उठाता है। भौंरों की गुंजार से मनभावने संगीत की सृष्टि होती है। आम की मंजरियों की सुगंध से वातावरण मादक बन गया होता है। खेतों में पककर खड़ी हुई गेहूँ-जौ, चना-मटर, तिलहन, अरहर की फसलें अपने सुनहरे रंग से कृषकों के मन में सफलता का उत्साह उत्पन्न करती होती हैं। ऐसे आनन्दमय समय के उपलक्ष्य में होली का पर्व मनाया जाता है।

एक दूसरा मत यह है कि होली पर्व प्रह्लाद और उनकी फूफी होलिका से सम्बन्धित घटना की स्मृति में मनाया जाता है। प्रह्लाद का पिता हिरण्यकश्यपु बड़ा प्रतापी राजा था। वह बड़ा अहंकारी भी था। वह अपने को ईश्वर से बड़ा मानता था और चाहता था कि उसकी सारी प्रजा उसकी भक्ति करे। अपने पुत्र प्रह्लाद से भी वह यही चाहता था। प्रह्लाद की अवस्था तब बहुत छोटी थी। पर उसमें उस छोटी अवस्था में भी सच-झूठ को पहचानने की समझ थी। उसने स्पष्ट कहा कि भगवान से बढ़कर कोई नहीं हो सकता। भगवान माता-पिता से भी बढ़कर है। माता-पिता आदर के पात्र हैं, पर भक्ति तो केवल भगवान की होती है। हिरण्यकश्यपु को पुत्र की यह बात बहुत बुरी लगी। उसने पाँच वर्ष के उस छोटे बालक को बहुत समझाया और डराया-धमकाया भी, परन्तु प्रह्लाद के विचारों में कोई परिवर्तन नहीं ला सका। फिर तो पिता ने पुत्र के प्राण लेने का

निश्चय कर लिया और इसके लिए एक के बाद एक उसने कई उपाय किये। इनमें एक उपाय में हिरण्यकश्यपु ने अपनी बहन होलिका से सहायता करने को कहा। होलिका को यह वरदान था कि वह आग में नहीं जलेगी। लकड़ियों का ढेर लगाया गया और होलिका अपने भतीजे प्रह्लाद को गोद में लेकर उस ढेर पर बैठ गई। फिर उसमें आग लगा दी गई। अग्नि प्रज्वलित हुई और लकड़ियों का वह ढेर धू-धू करके चिता की तरह जलने लगा। होलिका उसमें जलकर भस्म हो गई पर बालक प्रह्लाद का बाल भी बाँका न हुआ। ऐसी मान्यता है कि असत्य और अन्याय के ऊपर सत्य और न्याय की इस विजय के उपलक्ष्य में होली या होलिका का पर्व हर वर्ष मनाया जाता है।



होली का पर्व जिस कारण भी आरम्भ हुआ है, इसमें संदेह नहीं कि वह हमारा बड़ा पुराना त्यौहार है। कई पुराणों और साहित्य-ग्रन्थों में भी इसके मनाये जाने के विस्तृत वर्णन मिलते हैं। इस त्यौहार की सबसे बड़ी विशेषता इससे जुड़ा हुआ राग-रंग है। यह सारी जनता का पर्व है। इसमें धार्मिक कृत्यों, पूजा-पाठ और विधि-विधान का उतना महत्व नहीं है जितना गाने-बजाने, अबीर-गुलाल उड़ाने, खाने-पीने और हर एक से सद्भाव के साथ गले मिलने का है। सचमुच होली को हमारे देश का राष्ट्रीय पर्व माना जाना चाहिए।

होली पर्व की मुख्य घटना होलिका-दहन है। इसकी तैयारी बहुत पहले से होने लगती है। होली लगाने में विशेषकर बच्चे बड़ा उत्साह दिखाते हैं। देहाती क्षेत्रों में हर गांव की अपनी होली अलग होती है। होली लगाने का स्थान भी

निश्चित होता है। यही बात शहरों-नगरों में भी है। हर महल्ले की अपनी होली अलग लगती है। होली लगाने का श्रीगणेश रेंड़ी का पेड़ या उसकी शाखा गाड़ने से किया जाता है। कहीं बच्चे यह कार्य बसंत पंचमी को ही आरम्भ कर देते हैं और कहीं शिवरात्रि के दिन। फिर हर सायंकाल को बच्चे इधर-उधर से डाल-पात लाकर होली का आकार बढ़ाते जाते हैं। हर गाँव या महल्ले के बच्चों की यह कामना होती है और यही उनका प्रयत्न भी होता है कि उनकी होली और होलियों से ऊँची हो। इस प्रयत्न में बच्चे कभी-कभी अनर्थ भी कर बैठते हैं। वे छोटे वृक्षों को काटकर होली में डाल देते हैं, या आस-पास के घरों से फाटक उखाड़ लाते हैं, या फूस के छप्पर या इस तरह की अन्य उपयोगी वस्तुएँ चोरी से उठाकर होली में फेंक देते हैं। इस तरह के काम बुरे हैं और अच्छे बच्चों को इनसे बचना चाहिए।

ज्यों-ज्यों होलिका-दहन, अर्थात् फागुन की पूर्णिमा का दिन पास आता जाता है त्यों-त्यों होली के प्रति लोगों में उत्साह बढ़ता जाता है। यों तो होली के रंग का मुख्य दिन होलिका-दहन के दूसरे दिन चैत्र मास की प्रतिपदा को मनाया जाता है, पर एक तरह से पूरा फागुन का महीना होली का महीना माना जाता है। इस पूरे महीने-भर रंग चलता है और होली के गीत गाये जाते हैं। जहाँ भी दृष्टि डालिए, कोई-न-कोई व्यक्ति लाल, पीले, नीले यहाँ तक कि काले रंग में भी आधे-तिहाई रँगे कपड़े पहने जाता दिखाई देगा। आपके देखते-देखते किसी पर पिचकारी से रंग की वर्षा हो सकती है, चाहे जिस हाथ में पिचकारी है, वह अदृश्य हो। रात के समय हर गाँव में फाग, चौताल की गूँज उठती सुनाई देगी। जिसकी होड़ में ढोलक, डफ और मजीरे की सम्मिलित ध्वनि भी मन्द मालूम होती है। शहरों में भी हर महल्ले के युवक चौराहों पर इकट्ठे होकर फागुन की मस्ती में रात-की-रात गाने-बजाने में बिता देते हैं।

फागुन की पूर्णिमा के दिन किसी समय होलिका की मृत्यु निश्चित होती है। पंचांग देखकर पंडित लोग यह बात पहले ही बता देते हैं। मृत होलिका की चिता पर हर गांव-घर की प्रथा के अनुसार स्त्रियां भी कुछ न कुछ डाल जाती हैं—इस प्रार्थना के साथ कि होलिका के साथ उनके बाल-बच्चों की आपदाएँ भी जल जाएँ। निश्चित समय पर होलिका में आग लगाई जाती है। पूरे गांव या महल्ले के बाल-वृद्ध उस समय वहां इकट्ठे होते हैं। गांवों में स्त्रियाँ इस अवसर पर नहीं जातीं, पर शहरों में उनकी उपस्थिति भी देखी जाती है। गांवों में यह भी प्रथा है कि हर व्यक्ति जलती हुई होलिका में जौ या गेहूँ के दाने सहित डंठल फेंकता है और तीन बार उसकी परिक्रमा करता है। होलिका के जलने को संवत जलना भी कहते हैं—अर्थात् होलिका-दाह एक संवत की समाप्ति की सूचना देता है और दूसरे के आगमन की। होलिका-दाह के समय, आस-पास की अनेक होलि-काओं के एक साथ जलने के कारण सारा आकाश प्रकाशित हो जाता है। बच्चे

उस समय यह देखने में मगन होते हैं कि किस होलिका की लपट सबसे ऊँची गई। गाँवों में इस अवसर पर प्राय: फाग-चौताल गाने की प्रथा है। शहरों में होलिका-दाह के पश्चात् प्रसाद बाँटने का चलन है, जिसके लिए बच्चे हर घर से चन्दा इकट्ठा करते हैं।

चैत्र-प्रतिपदा होलिका पर्व की पूर्णाहुति का दिन होता है। उस दिन लोग दिल खोलकर होली खेलते हैं। रंगों की बौछारों से गलियाँ और सड़कें रंग-बिरंगी हो जाती हैं। उस दिन बाहर निकला हुआ कोई व्यक्ति रंग में सराबोर हुए बिना घर नहीं लौट सकता। उस दिन हरएक दूसरों से गले मिलत दिखाई देता है—परिचित-अपरिचित का कोई प्रश्न नहीं रह जाता। जाति-पाँति, छोटे-बड़े, ऊँच-नीच का सारा भेद उस दिन समाप्त हो जाता है। भाईचारा और सद्-भाव से हरएक का चेहरा रँगा दिखाई देता है। युवकों की टोलियाँ गाती-बजाती, मस्ती में झूमती, ठिठोलियों और अट्टहास से आकाश गुंजाती हुई वातावरण को उमंग और उत्साह से भर देती हैं। लगता है हर घर में बरात आई है।

इस प्रकार नये संवत का आरम्भ रंग और संगीत-भरी हँसी-खुशी के वातावरण में होता है। दोपहर तक यही दृश्य रहता है, फिर तीसरे पहर उसमें अचानक परिवर्तन आ जाता है। रंग खेलने के बाद लोग नहा-धोकर साफ कपड़े पहनते हैं और भोजन के पश्चात् अपने-अपने सम्बन्धियों और प्रियजनों के यहाँ नये संवत् के अवसर पर शुभकामनाएँ प्रकट करने जाते हैं। काफी रात गये तक यह कार्यक्रम चलता रहता है। बड़े शहरों में कहीं-कहीं ऐसा आयोजन भी देखने को मिलता है कि महल्ले के लोग एक स्थान पर एकत्र होकर होली-मिलन की रस्म सम्पन्न करते हैं। उस अवसर पर हल्का-फुल्का खान-पान भी होता है।

होली पर्व के अवसर पर कुछ वर्गों में गन्दी गालियाँ बकने या मदिरा पीकर बदहोश होने की भी लत देखी जाती है जो निन्दनीय है। होली तो प्रफुल्लचित्त रहने और सभी के प्रति भाईचारा और प्रेम दर्शाने का त्यौहार है।

जैनधर्म और त्यौहार

जैनधर्म की स्थापना स्वामी महावीर ने की थी। हिन्दुओं के २४ अवतारों की तरह जैनधर्म में भी २४ तीर्थंकर हो गये हैं। तीर्थंकर का अर्थ है लोगों को संसार-रूपी सागर के पार उतारने वाले महान् पुरुष। इन्हीं तीर्थंकरों के उपदेशों और सिद्धान्तों पर जैनधर्म आधारित है। ऋषभदेव पहले तीर्थंकर थे। इनका समय वही बताया जाता है जो ऋग्वेद का था। वेद में ऋषभदेव के बारे में कुछ वर्णन मिलता है। जैनों के एक तीर्थंकर रामचन्द्र जी के समय में भी हुए थे। उनका नाम मुनि सुव्रत था। वे २०वें तीर्थंकर थे। इसी तरह २२वें तीर्थंकर नेमिदेव थे जो श्रीकृष्णके चचेरे भाई बताये जाते हैं। अन्तिम दो तीर्थंकर स्वामी पार्श्वनाथ और स्वामी महावीर हुए। बिहार में सम्मेद शिखर नाम का पर्वत है जहां २४ में से २० तीर्थंकरों ने निर्वाण प्राप्त किया था; इनमें से एक स्वामी पार्श्वनाथ भी थे। सम्मेद शिखर का नाम अब पार्श्वनाथ पर्वत हो गया है। वह जैनों का पवित्र तीर्थ-स्थल माना जाता है।

जैनधर्म में अन्तिम तीर्थंकर स्वामी महावीर का विशेष महत्व माना जाता है। उनके ही उपदेशों पर जैनधर्म के मुख्य सिद्धान्तों का निर्माण हुआ है। महावीर का जन्म ५९९ ई० पूर्व में आजकल के बिहार राज्य के अन्तर्गत कुंडपुर नामक नगर में हुआ था। उनके पिता का नाम सिद्धार्थ और माता का नाम त्रिशला था। त्रिशला पड़ोस के प्रसिद्ध गणराज्य वैशाली के राजा की कन्या थी। सिद्धार्थ भी कुंडपुर के शासक थे। दोनों राजवंशों में रक्त का सम्बन्ध था। दोनों लिच्छवि थे। इस तरह महावीर की रगों में दोनों ओर से राजवंश का रक्त प्रवाहित हो रहा था। जिस दिन महावीर का जन्म हुआ वह चैत सुदी तेरस का दिन था। उसकी स्मृति में हर वर्ष सारे देश में महावीर-जयन्ती का पर्व मनाया जाता है।

बचपन से ही महावीर बड़े प्रतिभाशाली और तेज बुद्धि वाले थे। बड़े-

बड़े साधु और महात्मा भी अपनी शंकाएँ लेकर उनके पास आते थे। बालक महावीर क्षण-भर में उनका समाधान कर देते थे। इसलिए उनका नाम 'सन्मति' अर्थात् उत्तम मति वाला पड़ गया। वह बड़े निर्भय स्वभाव के भी थे। इस सम्बंध में कितनी ही घटनाओं का वर्णन मिलता है। इसीलिए उनका नाम महावीर पड़ा। अपनी निरन्तर बढ़ती हुई प्रतिभा के कारण वह वर्द्धमान कहलाने लगे। जब उन्हें पढ़ने के लिए पाठशाला में भेजा गया तो अध्यापक ने यह कहकर उन्हें वापस कर दिया कि यह बालक तो असाधारण ज्ञान का धनी है, इसे साधारण पढ़ाई की क्या जरूरत है।

वर्द्धमान महावीर ज्यों-ज्यों बड़े होते गए, अपने चारों ओर की हालत देखकर उनका मन दुखी रहने लगा। उस समय के समाज में अनेक बुराइयाँ घुस आई थीं। बाहरी आडम्बर बहुत था; पर सच्चे धर्म को समझकर उसका पालन करने वाले बहुत कम लोग थे। शिक्षा ऊँचे वंश के थोड़े लोगों के लिए थी। अधिकतर जनता अशिक्षित थी और तरह-तरह की बुराइयों का शिकार हो रही थी। समाज में स्त्रियों की दशा बहुत गिरी हुई थी। दया, सहानुभूति, सहयोग और प्रेम का महत्त्व लोगों को भूल गया था। जीव-हिंसा का प्रचार जोरों पर था। असत्य, चोरी, बेईमानी और कलह का राज्य चारों ओर हो रहा था। शूद्र कहे जाने वाले लोग सवर्णों के अत्याचारों की चक्की में पिस रहे थे। हर जाति अपने को सबसे ऊँचा घोषित कर रही थी। समाज में व्यवस्था और शान्ति जैसी कोई चीज नहीं रह गई थी। महावीर इस स्थिति से बहुत दुखी थे। वह बराबर यही सोचते कि किस प्रकार लोगों को सच्चे धर्म और मानवता के मार्ग पर चलाया जा सकता है। वह रात-दिन चिन्तन में मग्न रहने लगे। उन्हें एकांत अच्छा लगने लगा।

पुत्र की ऐसी प्रवृत्ति देखकर माँ-बाप को चिन्ता हुई। उनकी अभिलाषा यह थी कि महावीर बड़े होकर योग्य शासक बनें और अपने कुल और जाति का नाम ऊँचा करें। परन्तु युवा महावीर तो और ही मार्ग अपनाने लगे थे। उनका मन संसार की ओर मोड़ने के लिए, माँ-बाप ने उनका व्याह कर देना चाहा। इस विषय में दोनों तरह के उल्लेख मिलते हैं। कहीं तो ऐसा लिखा मिलता है कि महावीर का व्याह यशोदा नामक सुन्दर कन्या से हुआ था और उससे उन्हें प्रियदर्शना नाम की पुत्री की प्राप्ति हुई थी। दूसरे प्रकार का उल्लेख यह है कि महावीर ने, सारी तैयारियाँ पूरी हो चुकने पर, व्याह करने से इन्कार कर दिया था।

तीस वर्ष की अवस्था तक महावीर अपने माँ-बाप के साथ रहे। जब उनका मन घर-गृहस्थी से एकदम उचट गया तो उन्होंने माता-पिता की आज्ञा से उसका परित्याग कर दिया और परिव्रज्या ले ली— अर्थात् संसार से विरक्त होकर वह संन्यासी बन गए। उसके बाद उन्होंने बारह वर्ष घोर तपस्या में बिताए। इस अवधि में महावीर ने अनेक स्थानों की पद-यात्रा की। जैन-धर्मग्रंथों में इसका

पूरा विवरण मिलता है। महावीर एक गाँव से दूसरे गाँव, एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र का भ्रमण करते रहे। उनका मन निरन्तर चिन्तन में लगा रहता। उनकी साधना चलती रहती। शरीर को सब तरह से सहिष्णु बनाना उनका ध्येय था। वह एकांत और निर्जन स्थानों में ठहरते थे। गर्मी की ऋतु में जलती हुई शिलाओं पर, वर्षा में वृक्षों के नीचे और जाड़े में नदी-तट पर या मैदान में तपस्या करते थे। भोजन में उनकी कोई आसक्ति नहीं थी; किसी गृहस्थ से जो कुछ भी रूखा-सूखा मिल जाता, उसे प्रसन्नता से ग्रहण कर लेते थे। कभी-कभी वह दिन का दिन उपवास में बिता देते थे। निद्रा को भी उन्होंने वशीभूत कर लिया था। तपस्या और साधना के जितने प्रयोग हो सकते थे, उन सब का अभ्यास महावीर ने बारह वर्षों की अवधि में किया। तब उनके लिए सिद्धि प्राप्त करने का महान् दिवस आया।

एक दिन महावीर जृम्भिका ग्राम के निकट ऋजुकूला नदी के तट पर शालवृक्ष के नीचे ध्यानमग्न बैठे थे। वह वैशाख सुदी दशमी का दिन था। उन्हें लगा कि उनके सामने से अज्ञान, मोह और अश्रद्धा का पर्दा एक के बाद एक हटता जा रहा है। सत्य का रूप उनके सामने प्रकट हो रहा था। वह सर्वज्ञ और सम-दर्शी बन गये। उन्हें कैवल्य प्राप्त हो गया। वह जीवन्मुक्त हो गए। इस समय उनकी अवस्था बयालीस वर्ष की थी।

स्वामी महावीर ने निश्चय किया कि बयालीस वर्ष की साधना और चिन्तन से उन्हें जो ज्ञान प्राप्त हुआ था उसे वह जन-कल्याण के लिए जनता में बिखेर देंगे। उन्होंने यह भी निश्चय किया कि वह जन-कल्याण की बात जनता की भाषा में ही करेंगे। उस समय की जन-भाषा प्राकृत थी। स्वामी महावीर ने अपने सारे उपदेश इसी भाषा में दिए। जैनधर्म के सभी मूल धर्म-ग्रंथ इसी प्राकृत भाषा में मिलते हैं।

महावीर के केवल ज्ञान प्राप्त करने की चर्चा चारों ओर फैल गई। उस समय के राजा-महाराजा से लेकर साधारण-जन तक उनका उपदेश सुनने के लिए आने लगे। उनके उपदेशों के लिए विराट सभाओं का आयोजन किया जाने लगा। उनकी यह सभा समवशरण सभा कहलाती थी। इस सभा में प्रत्येक व्यक्ति बिना किसी भेद-भाव के आ सकता था। समता के इसी नियम के कारण इस सभा को समवशरण सभा कहा जाता था। महावीर का उपदेश सुनने के लिए इस तरह की प्रथम समवशरण सभा बिहार के राजगृह के विपुलाचल नामक पर्वत पर हुई थी। उनके उपदेश में जो सर्वप्रथम शब्द निकले थे वे इस प्रकार बताए जाते हैं—

उप्पणेइ वा विणस्सेइ वा धुवेइ वा।

अर्थात् प्रत्येक वस्तु में तीन गुण होते हैं— वह नाना रूपों में उत्पन्न होती रहती है, नष्ट होती रहती है और ध्रुव बनी रहती है। यह उपदेश स्वामी महावीर के

चिन्तन का नवनीत कहा जाता है।

राजगृह के बाद महावीर उपदेश देते और भ्रमण करते अनेक स्थानों में गए। उनके यात्रा-मार्ग में वैशाली, कौशाम्बी, श्रावस्ती वाणिय ग्राम, चंपा, वारणसी, प्रयाग, काकंदी ग्राम, हस्तिनापुर, साकेत, कंपिलपुर आदि कितने ही प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध स्थान आए। उन्होंने समस्त उत्तर भारत के कोने-कोने की यात्राएँ करके अपने उपदेशों से लाखों-करोड़ों नर-नारियों का कल्याण किया। जहाँ भी वह जाते उनकी समवशरण सभाओं का आयोजन होता। उनका उपदेश किसी जाति या वर्ग विशेष के लिए नहीं था। वह सारी मानवता का कल्याण चाहते थे। उनके उपदेशों का सार यह है कि हम दूसरों को कष्ट न पहुँचाएँ; किसी को धोखा न दें, अपने दिए हुए वचन को पूरा करें; अपने परिश्रम और न्याय से कमाए हुए धन पर ही अपना अधिकार मानें, सांसारिक भोगों में आसक्ति से अपने को बचायें, धन-वैभव-संग्रह दुख, चिन्ता और कलह का कारण होता है, उससे बचकर रहें। स्वामी महावीर के इन उपदेशों को पंच-व्रत कहते हैं—क्योंकि इनमें प्रधान रूप से पाँच बातों का वर्णन है। गृहस्थों के लिए यही उनकी आचार-संहिता है। साधुओं और श्रावकों के लिए उन्होंने अलग से नियम बनाए।

स्वामी महावीर के इन उपदेशों का जनता पर गहरा प्रभाव हुआ। लाखों की संख्या में लोग उनके शिष्य बन गए। उनके शिष्यों में सभी वर्गों के लोग थे। इस प्रकार लगातार तीस वर्ष तक स्वामी महावीर नगर-नगर और ग्राम-ग्राम भ्रमण करते हुए समवशरण सभाओं में जनभाषा प्राकृत में उपदेश देते रहे। अन्त में वह पावा नगर पहुँचे। यहीं कार्तिक की अमावस्या को रात के आखिरी पहर में उनका निर्वाण हुआ। उस समय उनकी अवस्था ७२ वर्ष की थी। यह ईसा के ५२७ वर्ष पहले की बात है। पावा नगर बिहार में वर्तमान पटना जिले में स्थित है। यहाँ कमलों से सुशोभित एक सुन्दर मन्दिर बना हुआ है। मन्दिर में स्वामी महावीर की चरण-पादुकाएँ रखी हैं। नित्य प्रति सैकड़ों तीर्थयात्री वहाँ उनकी मूर्ति का दर्शन करने जाते हैं। प्रतिवर्ष कार्तिक की अमावस्या को स्वामी महावीर की निर्वाण-तिथि पर वहाँ विशेष समारोह होता है। जैनों की मान्यता है कि दीपावली का पर्व स्वामी महावीर के निर्वाण की स्मृति में मनाया जाता है। उस दिन सभी जैन मन्दिर दीपमालाओं से सजाये जाते हैं, और स्वामी महावीर के सिद्धान्तों का मनन किया जाता है।

दीपावली के अतिरिक्त महावीर का जन्मदिवस भी जैनों का एक प्रिय पर्व है। हर वर्ष चैत सुदी तेरस को, जिस दिन स्वामी महावीर का जन्म हुआ था, यह पर्व मनाया जाता है। इसी को महावीर-जयन्ती कहते हैं। उस दिन मन्दिर में जाकर जैन लोग महावीर की प्रतिमा को फूल-माला चढ़ाते हैं, उनकी आरती करते हैं और उनके उपदेशों पर व्याख्यान सुनते हैं। गरीबों को दान देना भी उस दिन विशेष पुण्य माना जाता है।

महावीर-जयन्ती और दीपावली के अलावा जैनों का एक बड़ा पर्व

पर्युषण है। इस पर्व का जैनधर्म में वही महत्व है जो हिन्दू धर्म में नवरात्र का इस्लाम में रमजान का और ईसाई धर्म में क्रिसमस का । पर्युषण का अर्थ है मन, के सभी विकारों का शमन करना या उन्हें नष्ट करना। जैन लोग इस पर्व को इसी उद्देश्य से मानते हैं कि मन के सभी विकार, क्रोध, मोह, लोभ, ईर्ष्या, वैमनस्य निकल जाएँ और उसे शांति का अनुभव हो। पर्युषण पर्व हर वर्ष भादों सुदी पंचमी को आता।

यहाँ एक बात उल्लेखनीय है। महावीर स्वामी के बाद जैन-धर्म में कई सम्प्रदाय हो गए। इनमें दिगम्बर और श्वेताम्बर मुख्य हैं। दिगम्बर शरीर पर वस्त्र नहीं धारण करते और नंगे रहते हैं। उनकी मान्यता है कि महावीर स्वामी ने संन्यास लेने पर संसार के सभी पदार्थों की भांति वस्त्रों का भी त्याग कर दिया था। श्वेताम्बर जैन श्वेत वस्त्र पहनते हैं। जैन मन्दिरों में महावीर की दोनों तरह की मूर्तियां मिलती हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि जैन लोग अपने मन्दिरों में अपने तीर्थकरों की मूर्तियों की ही उपासना करते हैं, हिन्दुओं की तरह वे अन्य देवी-देवताओं को नहीं पूजते।

भादों सुदी पंचमी के कई दिन पहले से पर्युषण पर्व का आरम्भ हो जाता है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के जैन इसे आठ दिन तक मनाते हैं और इसीलिए इसका नाम आष्टाह्निक अर्थात् आठ दिन तक मनाया जाने वाला पर्व पड़ गया है। दिगम्बर-परम्परा में यह दस दिन तक मनाया जाता है। इसीलिए उस परम्परा में इसका नाम दस-लाक्षण पर्व है। यह अनन्त चतुर्दशी तक चलता रहता है। इस बीच जैन लोग महावीर स्वामी द्वारा बताये गये दस नियमों के पालन का अभ्यास करते हैं। सबसे अधिक बल अहिंसा पर दिया जाता है। पर्युषण का पर्व ऐसे समय मनाया जाता है जब वर्षा के कारण अनेक प्रकार के जीवों की उत्पत्ति अधिकता से होती है। उस समय जीव-हिंसा से बचना कठिन होता है। ऐसे ही समय के मध्य पर्युषण पर्व अहिंसा और संयम का पाठ पढ़ाने के लिए आता है। पर्युषण पर्व बताता है कि जीव-दया सबसे बड़ा धर्म है। उस दिन जैन लोग सच्चे मन से दुहराते हैं कि :—

खामांसि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा समंतु मे।
मित्ती में सव्व भूएसु, वेरं मज्झं वा केणई ॥

अर्थात् मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा करें, सभी जीवों के लिए मेरे मन में मित्रता का भाव है, किसी से मेरी शत्रुता नहीं है।

पर्युषण-पर्व के दिनों में जैन धर्मावलम्बी अपने धर्म-ग्रंथों का अध्ययन करते हैं; इन पर भाषण होते हैं। गृहस्थ और श्रावक सभी तरह के जैन इन भाषणों को भक्तिपूर्वक सुनते हैं और उनके अनुसार चलने का प्रयास करते हैं। इन दिनों में व्रत रखने की भी परम्परा है। दान देना भी विशेष पुण्य का कार्य

समझा जाता है। मंदिरों और भाण्डारों की सफाई की जाती है और उन्हें विशेष रूप से सजाया जाता है। रथ-यात्राओं का आयोजन होता है और लोग देश के विभिन्न स्थानों में स्थित तीर्थों की यात्रा पर भी निकल जाते हैं। जगह-जगह सामुदायिक भोज भी आयोजित किये जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि पर्युषण पर्व के अवसर पर पूरा जैन-समाज आत्म-शुद्धि के उद्देश्य से विविध प्रकार के धार्मिक कार्य-कलापों में निमग्न दिखाई देता है।

वैशाखी

वैशाखी का पर्व वैशाख मास के पहले दिन मनाया जाता है। यह हिन्दुओं के नये वर्ष का प्रथम दिन है। किसी भी जाति या राष्ट्र के जीवन में नये वर्ष का आगमन एक आनन्ददायक घटना मानी जाती है। इस दिन जन-जन में आनन्द और उत्साह की लहर होती है। हमारा नया वर्ष ऐसे समय आरम्भ होता है जब प्रकृति की शोभा निराली होती है। बसंत ऋतु की सुन्दरता अपने चरम उत्कर्ष पर होती है। उसकी शीतल गर्मी से फसल पककर खेतों में सुनहरी आभा बिखेरती रहती है। किसानों का मन अपने परिश्रम के फल को पछुआ के मन्द झोंकों में लहराते देखकर उमंग से भरा होता है। गरमी की ऋतु आने ही वाली होती है। उसकी अनुभूति से सरोवरों के ठंडे जल में नहाना और रात को खुले आसमान की छाया में सोना अच्छा लगने लगता है।

वैशाखी का पर्व यों तो सारे उत्तर भारत में मनाया जाता है। देश के पूर्वोत्तर भाग में स्थित आसाम में उसकी वैसी ही मान्यता है जैसी बंगाल, बिहार या उत्तर प्रदेश में। पर पंजाब में वैशाखी का पर्व जिस उत्साह से मनाया जाता है उसकी समानता देश का कोई दूसरा भाग नहीं कर सकता। बहुत पुराने समय में जब वैशाखी का सम्बन्ध केवल ऋतु-परिवर्तन और फसल से था तब भी कदाचित् इस पर्व के मनाने में पंजाब और प्रदेशों से आगे था। यही कारण है कि सिक्खों के दसवें और अन्तिम गुरु गोविन्द सिंह ने वैशाखी पर्व को एक ऐसे कार्य के लिए चुना जिससे सिक्ख धर्म का रूप ही बदल गया। वैशाखी पर्व सिक्खों के लिए खालसा दिवस भी बन गया—अर्थात् ऐसा दिवस जबकि गुरु गोविन्द सिंह के हाथों उसका रूप निखरकर, सभी कमजोरियों से मुक्त होकर, खालिस या शुद्ध हो गया।

गुरु गोविन्द सिंह के पहले सिक्ख धर्म बहुत शान्तिप्रिय धर्म था। अत्याचार सहकर भी उसके अनुयायी सिर नहीं उठाते थे, सिक्ख धर्म के संस्थापक गुरु नानक

ने उन्हें यही शिक्षा दी थी कि किसी प्राणी को कष्ट पहुँचाना पाप है। गुरु नानक के वाद के गुरुओं ने भी सिक्खों को वरावर यही सिखाया। उन्होंने उस समय के शासकों के हाथों अनेक अत्याचार सहे, पर कभी उनके विरुद्ध हथियार नहीं उठाया। गुरु गोविन्द सिंह के पिता गुरु तेगवहादुर ने अपना सिर कटा दिया लेकिन उनके मन में भी युद्ध या संघर्ष की वात नहीं आई। गुरु गोविन्द सिंह ने विचार किया कि इस तरह शान्तिप्रिय वने रहने से काम नहीं चलेगा। वह इस नतीजे पर पहुँचे कि शान्तिप्रियता, भल-मनसाहत और सवके लिए सद्भावना होना जरूरी है, पर इनके साथ आत्मरक्षा के लिए हर जाति में वीरता का होना भी उतना ही जरूरी हैं। अत्याचार के सामने सिर झुकाना कायरता है। इन विचारों से प्रेरित होकर गुरु गोविन्द सिंह ने सिक्ख सम्प्रदाय को एक नया रूप देने का निश्चय किया। इनके लिए वैशाखी पर्व का दिन उन्हें सवसे उपयुक्त जँचा क्योंकि उस दिन पंजाव में नये वर्ष के आरम्भ के उपलक्ष्य में जगह-जगह मेले और हँसी-खुशी के जल्से होते थे। गुरु गोविन्द सिंह ने इसी वैशाखी के दिन सिक्ख जाति को खालिस रूप देने के लिए आनन्दपुर साहव में एक जल्से का आयोजन किया। आनन्दपुर साहव स्थान सिक्खों का तीर्थ स्थान वन गया है। यह पंजाव के होशियारपुर जिले में पड़ता है।

१६९९ ई० में वैशाखी पर्व के दिन गुरु गोविन्द सिंह ने आनन्दपुर साहव के विशेष जल्से में अपने अनुयायियों को आमन्त्रित किया। एक वड़ा तम्वू गाड़ दिया गया। उसके पिछले भाग में पाँच वकरे वाँध दिए गए जिनका पता सिवाय गुरु गोविन्द सिंह के और किसी को नहीं था। प्रार्थना के वाद गुरु गोविन्द सिंह मंच पर खड़े हो गये और अपनी तलवार म्यान से निकाल ली। भयानक रूप वनाते हुए उन्होंने गरजकर कहा कि, "जो शिष्य अपने गुरु के लिए अपने प्राणों का मोह त्यागकर सिर देने के लिए तैयार हो, वह आगे आ जाय।"

सभा में सन्नाटा देखकर गुरु ने अपनी माँग फिर दुहराई। लाहौर का एक क्षत्रिय दयाराम आगे वढ़ा और सिर झुकाकर गुरु के आगे खड़ा हो गया। गुरु गोविन्द सिंह दयाराम को तम्वू के अन्दर ले गये। वहाँ उन्होंने एक वकरे का वलिदान किया और दयाराम को स्नान करके नई वेश-भूषा धारण करने को कहा। थोड़ी देर में रक्त से सनी तलवार हाथ में उठाये वे वाहर आकर मंच पर खड़े हो गये। उन्होंने दूसरे शिष्य की माँग की जो अपना सिर देने को तैयार हो। इस वार रोहतक का एक जाट धरमदास आगे वढ़ा। गुरु उसे अन्दर ले गये। दूसरे वकरे की वलि करने के वाद उन्होंने धरमदास को भी दयाराम जैसा ही आदेश दिया। इसी प्रकार एक-एक करके उन्होंने तीन और शिष्य चुने। तीसरा शिष्य द्वारका का एक रंगरेज मोहकमचन्द था। चौथा शिष्य जगन्नाथपुरी का एक कहार हिम्मत राय और पाँचवाँ शिष्य वीदर का एक ब्राह्मण साहिव चन्द था। वेश-भूषा में सजे हुए इन शिष्यों को लेकर गुरु गोविन्द सिंह जब रंगमंच पर

आये तो यह दृश्य देखकर एकत्रित जन-समूह आश्चर्य से चकित रह गया। गुरु की परीक्षा-प्रणाली की सब ने भूरि-भूरि प्रशंसा की।

गुरु गोविन्द सिंह ने अपने इन पाँचों शिष्यों को 'पंचपियारा' कहकर सम्बोधित किया। कितनी अच्छी बात थी कि उनका चुनाव देश के चारों भागों से और हिन्दुओं की चारों जातियों से हुआ था ! पंचपियारों ने गुरु के आदेश से एक ही पात्र से अमृत का प्रसाद और एक ही पात्र से कड़ाह प्रसाद ग्रहण किया। इस प्रकार वे भ्रातृत्व के सूत्र में बँध गये। उनके बीच से जात-पाँत का भेदभाव मिट गया। वे आनन्दपुर साहब के निवासी हो गये। गुरु गोविन्द सिंह उनके पिता और माता साहिब दिवान उनकी माता बन गई। सिक्ख धर्म में एक नई शिष्य-परम्परा का, एक नई वंशावली का आरम्भ हुआ। एक नये पंथ की नींव पड़ी। उसका नाम खालसा हुआ।

गुरु गोविन्द सिंह का जन्म पटना में सन् १६६६ में हुआ था। उनका देहान्त सन् १७०८ ई० में हुआ। ४२ वर्ष के इस अल्पकालीन जीवन में उन्होंने सिक्ख जाति का रूप बदल दिया। गुरु नानक ने उसे शान्ति का पाठ पढ़ाया था। उनके बाद के गुरुओं ने अपने त्याग और बलिदान से इस जाति को कठिनाइयाँ सहन करने को तैयार किया था। गुरु गोविन्द सिंह ने उसे वीर सेनानियों की जाति बना दिया। उन्होंने उसे मरने और मारने का पाठ पढ़ाया। ऊँच-नीच और जाति-प्रथा के भेद भाव से मुक्त करके गुरु गोविन्द सिंह ने सिक्ख जाति को एक नई बिरादरी में संगठित कर दिया और उस बिरादरी को खालसा का नाम दिया।

गुरु गोविन्द सिंह ने पंचपियारों से पुनः अमृत तैयार कराया जैसा कि उन्होंने पहले स्वयं किया था। शिष्यों के हाथ से उन्होंने पाहुल ग्रहण किया और गुरु-शिष्य के बीच भी भेद-भाव की पूर्ण समाप्ति की घोषणा की। खालसा के अनुयायियों के लिए उन्होंने करवाल, कंघ, कच्छ, कड़ा, केश की वेश-भूषा अनिवार्य कर दी। उनका आदेश हुआ कि खालसा का हर सदस्य गुरुवाणी का नित्य पाठ करे। सेवा और बलिदान के मार्ग को ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाए। गुरु गोविन्द सिंह ने यह भी कहा कि उनके बाद गुरु ग्रंथसाहब को ही लोग अपना गुरु समझें।

खालसा को मजबूत बनाने के लिए गुरु ने अपने अनुयायियों को युद्ध विद्या सिखाई, नकली युद्धों का आयोजन किया, तम्बू लगाने, तलवार चलाने, बाण चलाने आदि की शिक्षा दी।

गुरु गोविन्द सिंह ने सिक्ख जाति को शक्तिशाली बनाने के इस कार्यक्रम का आरम्भ १६९९ ई० में बैसाखी के दिन किया था, जिस दिन उन्होंने खालसा की नींव रखी। इसलिए सिक्ख जाति में बैसाखी पर्व का एक धार्मिक महत्व भी हो गया है। उस दिन हर सिक्ख गुरुद्वारे में जाकर गुरु ग्रन्थसाहब का पाठ

अपना कर्त्तव्य समझता है। गरीबों को दान देना और भोजन कराना भी इस दिन जरूरी समझा जाता है। हर बड़े-छोटे नगर, कस्बे और गाँव में वैशाखी के दिन लंगर का आयोजन होता है जहाँ बिना किसी भेद-भाव के जो चाहे जाकर भोजन कर सकता है। यह एक प्रकार से पंचायती आयोजन होता है जो सिक्ख-सभा या गुरुद्वारे की प्रवन्धक समिति करती है। हर सिक्ख अपनी शक्ति के अनुसार इसमें आर्थिक सहयोग करता है। सन्ध्या समय जुलूस निकलता है जिसके आगे गुरु ग्रन्थ-साहब की सवारी रहती है। जुलूस की समाप्ति पर सभा होती है जहाँ सिक्ख धर्म के ज्ञानी गुरु ग्रन्थ का पाठ करते हुए धार्मिक उपदेश देते हैं।

पंजाब में वैशाखी के पर्व की रंगत सिक्खों के धार्मिक आयोजनों के अतिरिक्त भी देखने को मिलती है। इस दिन सारा पंजाब उमंग में होता है। पके हुए गेहूँ के खेत चारों ओर सुनहरी आभा विखेरते हैं। हरएक उत्साह में भरा होता है। स्त्री, पुरुष, बाल, वृद्ध सभी रंग-विरंगे कपड़े पहनकर बाहर निकलते हैं। खेल-कूद, टूर्नामेंट, कुश्ती, शारीरिक व्यायाम के प्रदर्शन गाँव-गाँव में होते हैं। युवक भांगड़ा नृत्य में मटकते हुए लोगों का मनोरंजन करते हैं तो युवतियाँ अपने हाव-भाव भरे गीतों से सबका मन मोह लेती हैं। भाईचारे और खुशियाली के वातावरण में सारा पंजाब नाचता मालूम होता है।

इसे संयोग ही कहा जायगा कि सन् १६१६ ई० में पंजाब में वैशाखी के दिन ही एक ऐसी घटना हुई जिससे धार्मिक और ऋतु-परिवर्तन सम्बन्धी महत्व के साथ उसका राजनीतिक महत्व भी हो गया है। घटना बड़ी मर्मान्तक थी और आनन्दपुर साहब की सभा के समग्र ही उसने भारत के इतिहास को एक नया मोड़ दे दिया। १७१६ में इस दिन अमृतसर में बड़ी सनसनी थी। अंग्रेज शासकों और जनता के बीच तनाव अपनी सीमा पर पहुँच गया था। उसके कुछ दिन पहले चार अंग्रेज मार डाले गये थे। पंजाब के गवर्नर ने फौजी कानून लागू कर दिया था और एक अंग्रेज कमांडर जनरल डायर के हाथ में सारी शक्ति आ गई थी। उसने सभी सभाओं पर पाबंदी लगा दी थी। लेकिन उसके आदेश को तोड़कर हजारों लोग अमृतसर के जलियान वाला बाग में इकट्ठे हो गये थे। डायर वहाँ पहुँचा और बाग से बाहर निकलने का रास्ता बंद कराके निहत्थी निरीह जनता पर वह गोलियों की वर्षा तब तक कराता रहा जब तक कि वे समाप्त नहीं हो गई। देखते-देखते सैकड़ों स्त्री, पुरुष और बच्चे मृत्यु के घाट उतर गये और उनसे भी अधिक संख्या में गोलियों से घायल होकर कराहने-बिलखने लगे। इस हत्या-कांड से सारे देश में आक्रोश की लहर फैल गई और अंग्रेजी शासन से भारतीय जनता का विश्वास एकदम उठ गया। अब देश स्वतंत्र हो गया है। अंग्रेजी शासन समाप्त हो गया है। पर वैशाखी आती है तो लाखों-करोड़ों देशवासियों को जलियान वाला बाग की उस निर्मम घटना की भी याद आये बिना नहीं रहती।

नानक-जयंती

कार्तिकी पूर्णिमा सिक्खों का सबसे बड़ा पर्व है। इसको गुरु पूर्णिमा भी कहते हैं। इसी दिन सिक्खों के पहले गुरु नानक का जन्म हुआ था। सिक्ख लोग इस पर्व को बड़े उत्साह और धूमधाम से मनाते हैं।

गुरु नानक में जन्म के क्षण से ही महापुरुष के लक्षण प्रकट होने लगे थे। जन्म लेते ही बच्चे रो उठते हैं। कहा जाता है कि नानक बिलकुल नहीं रोये। वरन् वह हँस रहे थे। एक वर्ष भी पूरा नहीं हुआ कि वह चलने-फिरने लगे थे। छोटी आयु में ही जब वह बच्चों के साथ खेलने जाते तब 'सत्य कर्त्तार' कहकर सब का अभिवादन करते। घर में उन्हें खाने को जो कुछ मिलता उसे बाहर जाकर भिखमंगों को बांट देते। उनकी यह हालत देखकर कोई उन्हें सिद्ध पुरुष कहता और कोई योगी। उनकी जन्म-पत्री देखकर ज्योतिषियों ने कहा कि यह बालक बड़ा प्रतापी होगा। सारा संसार इसके चरणों में श्रद्धा से सिर झुकाएगा।

गुरु नानक का जन्म सन् १४६९ ई० में कार्तिकी पूर्णिमा को पंजाब में शेखूपुरा जिले के तलवंडी नामक गांव में हुआ था। यह गाँव लाहौर शहर से पैंतालीस मील दूर उत्तर-पश्चिम में है। गुरु नानक के नाम पर इसका नाम 'ननकाना साहब' हो गया है। यह स्थान अब पाकिस्तान में चला गया है तो भी हर वर्ष गुरु-पूर्णिमा के अवसर पर सैकड़ों सिक्ख गुरु नानक के जन्म-स्थान का दर्शन करने वहां जाते हैं।

गुरु नानक के पिता का नाम मेहता कालूचन्द वेदी था। वह तलवंडी के हाकिम के मुख्य कर्मचारी थे। घर पर खेती-बाड़ी भी करते थे और वनिज का व्यवसाय भी। गुरु नानक की माता का नाम तृप्ता देवी था। उन्होंने बालक नानक का लालन-पालन बड़े प्यार से किया। मां-बाप की इच्छा थी कि नानक बड़े होने पर परिवार का कार-बार सँभालें। परन्तु नानक बचपन से ही साधुओं की तरह बैठते-उठते और उन्हीं की तरह बातें किया करते थे।

आठ साल की अवस्था में नानक को विद्यालय में भेजा गया। किन्तु पढ़ने-लिखने में उनका मन न लगा। वह एकान्त में बैठकर भगवान का ध्यान करते और भजन गाते। नानक की यह दशा देखकर घर वालों ने समझा कि बालक पागल हो गया है। उन्होंने वैद्य को बुलाया। वैद्य ने नानक की नाड़ी देखनी चाही। नानक ने झट अपना हाथ खींच लिया और कहा :—

वैद बुलाया वैदगी, पकड़ टटोले बाँह।
भोला वैद न जानई, दर्द कलेजे माँह॥
जाहु वैद घर आपने, मेरी थाह न ले।
हम को शाह आपने, तू किस दारू दे॥

नवें वर्ष में नानक को संस्कृत पढ़ने के लिए पंडित के पास भेजा गया। पंडित ने 'ओम्' लिखना सिखाया। नानक ने 'ओम्' का अर्थ पूछा। गुरु ने कहा—तुम अभी बच्चे हो, तुम्हारी बुद्धि कच्ची है। 'ओम्' का अर्थ तुम्हारी समझ में नहीं आ सकता।

गुरु की बात सुनकर ज्ञानी बालक बोला—'ओम्' नाम ईश्वर का है। पंडित जी छोटे बालक की प्रतिभा देखकर दंग रह गये।

ग्यारहवें वर्ष में नानक एक मौलवी के यहाँ फारसी पढ़ने भेजे गये। मौलवी ने कहा—कहो 'अलिफ़'। तब शिष्य बोला—'अलिफ़ से अल्लाह सबका सिरजन हार।' मौलवी साहब आश्चर्य में पड़कर बोले—ऐसे शागिर्द को पढ़ाना बहुत मुश्किल काम है।

जब नानक किशोर हुए और उनका जनेऊ होने लगा तो उन्होंने पंडित जी से कहा—"सूत पहनने से और बकरी काटकर उसका मांस सम्बन्धियों को खिलाने से मनुष्य कैसे पवित्र हो सकता है? करुणा के कपास से बना हुआ संतोष का सूत धारण करने से ही मनुष्य का कल्याण हो सकता है।"

जब नानक कुछ और बड़े हुए तब पिता ने उनसे खेती की देख-भाल करने को कहा। नानक बोले—पिताजी शरीर ही खेत है और इसमें प्रेम की खेती करना ही हमारा उद्देश्य होना चाहिए।

एक दिन नानक के पिता ने उन्हें बीस रुपये देकर लाहौर भेजा और कहा कि—बेटा कोई ऐसा खरा सौदा करना जिससे कुछ लाभ हो। लाहौर के मार्ग में नानक को साधुओं की एक टोली मिली। साधु भूखे थे। नानक ने पिता के दिये रुपयों से उन्हें भरपेट भोजन कराया। घर लौटकर वह पिता से बोले—मैंने जीवन में आज पहली बार खरा सौदा किया है। सारा हाल सुनकर नानक के पिता क्रोधित होकर उन्हें डाँटने-फटकारने लगे; पर नानक पर इसका कोई प्रभाव नहीं हुआ।

अट्ठारह वर्ष की अवस्था में पिता ने नानक का विवाह कर दिया। उनके श्रीचन्द और लक्ष्मीचन्द नाम के दो पुत्र हुए। परन्तु नानक का मन गृहस्थी में

न लगा। वे विरक्ति में रहने लगे। तब उनके पिता ने उन्हें अपने दामाद के पास सुलतानपुर भेज दिया। उनके बहनोई दीवान जयराम ने नानक को सरकारी नौकरी में मोदी के पद पर रखवा दिया। ज्यों-त्यों करके उन्होंने नौकरी में सत्रह वर्ष बिताये। परन्तु उनसे जो कुछ भी आमदनी होती उसे वह साधु-संतों में बांट देते। एक दिन पास की बेन नदी में नित्य की भाँति वह स्नान कर रहे थे। जब उन्होंने जल में डुबकी लगाई तो जल में ही उन्हें ईश्वर का साक्षात्कार हुआ। भाव-विभोर होकर नानक उसी अवस्था में तीन दिन जल में डूबे रहे। सारे नगर में उनके सिद्ध होने की चर्चा फैल गई।

एक बार जब नानक अन्न तौल रहे थे तो तेरह पर पहुँचने पर 'तेरा तेरा' कहते इतने भाव-विभोर हो गये कि न जाने कितना अन्न तौल डाला और तेरह से आगे न बढ़े। जब इसकी शिकायत हुई तो सारा अन्न फिर से तौला गया। वह न ज्यादा निकला और न कम। परन्तु नानक ने नौकरी से इस्तीफा दे दिया। उस समय उनके हिसाब में केवल आठ रुपये निकले। इन रुपयों को भी उन्होंने गरीबों में बांट दिया। इस प्रकार संसार से सारी माया-ममता तोड़कर नानक विराग और त्याग के मार्ग पर चल पड़े। उनके पिता ने उनका मन मोड़ने के लिए अन्तिम प्रयत्न किया। मरदाना नाम का एक मुसलमान गवैया नानक के पास भेजा गया। पर उसके रँगीले गानों का नानक पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। वरन् नानक के उपदेश सुनकर मरदाना स्वयं उनका शिष्य बन गया। बाला पहले से ही नानक के साथ था। अब बाला और मरदाना को साथ लेकर नानक जगह-जगह घूमकर उपदेश देने लगे। उनका मूल मंत्र था—ईश्वर एक है। उसी ने सब को बनाया है। हिन्दू-मुसलमान सब एक ही ईश्वर की संतान हैं। उसके लिए सब बराबर हैं। ईश्वर सत्य-स्वरूप है। हम सब को अच्छे काम करने चाहिए, जिससे परमात्मा के सामने हमें लज्जित न होना पड़े।

नानक के इन उपदेशों का लोगों पर अच्छा प्रभाव हुआ। लोग उनके शिष्य बनने लगे। धीरे-धीरे वह 'गुरु नानक' के नाम से प्रसिद्ध हो गये।

गुरु नानक ने अपने दो मुख्य शिष्यों बाला और मरदाना के साथ देश के भिन्न-भिन्न भागों की यात्राएँ कीं। पूर्व में वह आसाम तक गये। उत्तर में कैलाश और मानसरोवर की यात्रा करते हुए वह तिब्बत तक पहुँचे। दक्षिण में वह श्रीलंका तक गये तो पश्चिम में अरब देश के मक्का-मदीना तक। इन यात्राओं में उन्हें अच्छे लोग मिले तो कुछ बुरे लोग भी। गुरु नानक ने सभी को सद्मार्ग पर चलने का उपदेश दिया। उनका कोई विशेष बाना नहीं था और न उन्होंने किसी नये धर्म के चलाने की बात की। उनका धर्म भाईचारे और दया का धर्म था। उनके हृदय की सच्चाई का प्रभाव सभी पर होता था और वह जहाँ भी पहुँचते लोग उनके शिष्य बन जाते थे। उनके लिए हिन्दू और मुसलमान दोनों के तीर्थ-स्थान एक-से थे।

गुरु नानक की यात्राओं में अनेक रोचक घटनाएँ घटीं। एक बार वह अमीनावाद नामक नगर में पहुँचे। वहाँ वह भाई लालो नाम के एक गरीब बढ़ई के यहाँ ठहर गये। नगर के प्रमुख व्यक्ति मलिक भागो के यहाँ यह समाचार पहुँचा। मलिक भागो उसी दिन एक बड़ा ब्रह्मभोज दे रहा था। उसने बहुत चाहा कि गुरु नानक उसके यहाँ भोजन करें परन्तु उन्होंने उसकी बात नहीं मानी और गरीब बढ़ई की रूखी-सूखी रोटियाँ बड़े प्रेम से खाई। इस पर मलिक भागो ने शिकायत की। तब गुरु नानक ने एक हाथ में लालो के घर की रूखी-सूखी रोटी का टुकड़ा लिया और दूसरे हाथ में भागो के घर की मिठाई। उन्होंने दोनों को निचोड़ा। लोगों के आश्चर्य की, यह देखकर सीमा न रही कि लालो की रूखी रोटी से दूध की बूंद बरस रही थीं और भागो की मिठाई से रक्त की धार टपक रही थी। गुरु नानक ने लोगों को समझाया कि—जहाँ परिश्रम की कमाई से सुख-शान्ति मिलती है, वहाँ बेईमानी और अत्याचार से विनाश हो जाता है।

गुरु नानक अपनी यात्रा पर थे कि उसी समय बाबर ने भारत पर चढ़ाई कर दी। बाबर के सिपाहियों ने सैयदपुर नगर के निकट इन्हें कैद कर लिया। इनके सिर पर ढोने के लिए भारी गठरी रख दी गई। जब गुरु चलने लगे तो सिपाहियों ने देखा कि गठरी उनके सिर से एक बालिश्त ऊपर अपने आप छाया किये हुए चल रही है। कारागार में गुरु को चक्की पीसने का काम दिया गया। वहाँ भी सिपाहियों ने देखा कि गुरु मस्त होकर भजन गा रहे हैं और चक्की अपने आप चल रही है। अन्त में जब बात बाबर तक पहुँची तो वह स्वयं आया और गुरु का प्रभाव देखकर तुरन्त उन्हें कारागार से मुक्त करने का आदेश दे दिया।

गुरु नानक की मक्का की यात्रा उल्लेखनीय है। वे मक्का जाने वाले फकीरों की एक टोली में सम्मिलित होकर यात्रा करने लगे। लेकिन उन मुसलमान फकीरों ने उन्हें काफिर समझकर उनका साथ छोड़ दिया। किन्तु उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा कि मक्का पहुँचने पर उन्होंने देखा कि गुरु नानक वहाँ पहले ही पहुँचे हुए हैं। कहा जाता है कि मक्का में गुरु नानक एक दिन काबा की ओर पैर करके सो गये थे। यह देखकर एक मुल्ला साहब बहुत नाराज हुए और बोले— "मूर्ख, तू कौन है जो इस तरह खुदा के घर की ओर पैर पसारे पड़ा है?" गुरु नानक ने निश्चिन्त भाव से उत्तर दिया—"बाबा, मैं एक थका-हारा मुसाफिर हूँ। जिधर खुदा का घर न हो, उधर ही मेरे पैर कर दो।"

मुल्ला ने जब क्रोध में आकर उनके पैर घुमाना शुरू किया तो जिस ओर गुरु नानक के पैर घूमते उसी ओर उसे काबा दिखाई देता। अंत में वह थककर हार मान गया। उसी क्षण गुरु नानक ने लोगों को ईश्वर की सर्वव्यापकता का उपदेश दिया।

मक्का से मदीना होते हुए गुरु नानक बगदाद पहुँचे। वहाँ के खलीफा ने

दीन-दुखियों को सताकर बहुत धन इकट्ठा किया था। गुरु नानक उसके महल के पास बैठ गये। उन्होंने बहुत से कंकड़-पत्थर इकट्ठे कर लिये। जब खलीफा की सवारी उधर से निकली तो उसने गुरु नानक का यह करतब देखकर पूछा—यह क्या कर रहे हो।

गुरु नानक ने उत्तर दिया—सुना है आपने बहुत-सी दौलत इकट्ठी कर रखी है। अगर मरने पर आप उसे अपने साथ ले जा सकेंगे तो मैं भी अपने साथ ये कंकड़-पत्थर ले जाऊँगा।

यह सुनते ही खलीफा की आँखें खुल गईं। उसने अपनी सारी सम्पत्ति दीन-दुखियों में बाँट दी और नानक का भक्त बन गया। जब गुरु नानक विदा होने लगे तो खलीफा ने उन्हें एक चोगा भेंट किया जिस पर कुरान शरीफ की आयतें लिखी हुई थीं। यह चोगा अब भी डेरा बाबा नानक के गुरुद्वारे में सुरक्षित है और 'चोला साहब' के नाम से प्रसिद्ध है।

बगदाद से चलकर गुरु नानक हिरात, बुखारा आदि नगरों से होते हुए काबुल पहुँचे और वहाँ से भारत वापस आये। भारत की सीमा के पास अब्दाल नामक एक स्थान था। वहाँ यार अली नामक एक फकीर रहता था। उसके डेरे के पास ठंडे जल का एक सोता था। यार अली उससे किसी को जल नहीं लेने देता था। गुरु नानक ने कहलाया कि जल खुदा का है, उस पर रोक नहीं लगानी चाहिए। पर फकीर पर कोई असर नहीं हुआ। तब जल का सोता अपने स्थान से हटकर उधर चलने लगा जहाँ गुरु नानक ठहरे थे। इस पर यार अली क्रोध में आ गया। उसने पहाड़ से एक बड़ा पत्थर का टुकड़ा लुढ़का दिया कि बाबा उसके नीचे दबकर मर जाएँ। जब शिला पास आई तो गुरु नानक ने उसे अपने हाथ के पंजे से रोक दिया। बाद में वहाँ एक गुरुद्वारा बना, जो अब भी 'पंजा साहब' के नाम से प्रसिद्ध है।

लम्बी यात्राओं के बाद गुरु नानक करतारपुर नामक स्थान में रहने लगे। जीवन के अंतिम वर्ष उन्होंने वहीं बिताये। उनके सामने अब प्रश्न यह था कि अपने हजारों शिष्यों के पथ-प्रदर्शन के लिए अपना उत्तराधिकारी किसे बनाए। उनके सम्बन्धियों ने चाहा कि वह अपने दो पुत्रों में से किसी एक को इस पद के लिए चुन लें। बाबा को इनमें से कोई भी गुरु बनने योग्य नहीं दिखाई दिया। तब उन्होंने अपने प्रिय शिष्य अंगद को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। इस घोषणा का उनके शिष्यों ने सहर्ष स्वागत किया। इससे यह बात भी स्पष्ट हो गई कि गुरु की गद्दी किसी की पैतृक सम्पत्ति नहीं है; वह केवल योग्यता के आधार पर प्राप्त की जा सकती है। गुरु नानक का देहान्त सन् १५३९ में हुआ।

[illegible] के बाद सिक्खों के नौ गुरु और हुए। दसवें गुरु श्री गोविन्द

सिंह थे। उनके आदेश से आगे गुरुओं की परम्परा बंद हो गई। उन्होंने गुरु नानक से लेकर सभी गुरुओं और संतों के उपदेशों का संग्रह एक ग्रंथ में किया जो 'ग्रंथ-साहब' कहलाया। गुरु गोविन्द सिंह ने 'ग्रन्थ-साहब' को ही गुरु के आसन पर बैठा दिया। यह सिक्खों का धर्म-ग्रन्थ है और सिक्ख लोग इसे 'गुरु-ग्रंथ-साहब' कहकर इसकी पूजा करते हैं। हर गुरुद्वारे में इसे बड़े आदर के साथ रखा जाता है और प्रतिदिन इसका पाठ होता है।

गुरु नानक अपने नाम पर कोई नया धर्म या सम्प्रदाय चलाना नहीं चाहते थे। उनकी शिक्षा यही थी कि मनुष्य को चाहिए कि वह जिस भी स्थिति में रहे ईश्वर को न भूले। सारे दुखों का मूल अभिमान है। परिश्रम करके रोटी कमाना सबका कर्त्तव्य होना चाहिए। अपना पेट भरने के साथ दूसरों का भी ध्यान रखना चाहिए। गुरु का लंगर सदा सबके लिए खुला रहता था। इसी से लंगर की प्रथा चली।



हर कार्तिकी पूर्णिमा को जब नानक-जयन्ती मनाई जाती है, सिक्खों का उत्साह देखने लायक होता है। गुरुद्वारों में नानक-वाणी का पाठ सुनने के लिए अपार भीड़ इकट्ठा होती है। गरीबों को भोजन देने के लिए लंगर चलाए जाते हैं। संध्या समय जुलूस निकाले जाते हैं। साथ में कीर्तन मंडलियाँ चलती हैं।

जुलूस का अंत किसी खुले मैदान या पार्क में सभा के रूप में होता है। वहाँ भी गुरुग्रन्थ साहब का पाठ होता है, गुरु की जीवनी और उपदेशों पर भाषण होते हैं और कवि और शायर कविता सुनाते हैं। सन् १९६९ ई० में गुरु पूर्णिमा के अवसर पर सारे देश में नानक-जयन्ती मनाने का विशेष आयोजन किया गया था क्योंकि वह गुरु का ५००वाँ जन्म-दिवस था।

केरल के ओणम् की तरह ही पोंगल तमिलनाडु का अपना त्यौहार है। उत्तर भारत के दीपावली, दशहरा, होली आदि पर्व भी तमिलनाडु में मनाये जाते हैं, पर पोंगल तो उसका राष्ट्रीय पर्व है। यह पर्व तमिलनाडु में उत्सव का सबसे बड़ा अवसर होता है। इस अवसर पर पूरे तमिलनाडु में वही उत्साह दिखाई देता है जो वैसाखी पर्व पर पंजाब में देखने को मिलता है। वैसाखी की तरह ही पोंगल है भी ऋतु का पर्व। यह हर वर्ष जनवरी में मकर संक्रान्ति के अवसर पर मनाया जाता है, जब धान की फसल पककर तैयार होती है। पोंगल के अवसर पर ही धान की कटाई शुरू होती है। नये धान को कूटकर नया चावल नये घड़ों में उबाला जाता है और उसे सूर्य देव को अर्पित करके खुशियाँ मनाई जाती हैं। पोंगल का शाब्दिक अर्थ ही 'उबालना' है।

पोंगल का पर्व तीन दिन तक मनाया जाता है। पहला दिन 'भोगी पोंगल' कहलाता है। इस दिन पारिवारिक उत्सव होते हैं। हर गृहस्थ अपने घर की लिपाई-पुताई और साज-सज्जा में लगा होता है। पूजा-पाठ, गाना-बजाना, खान-पान की खुशियाँ हर घर में दिखाई देती हैं। दूसरे दिन को 'सूर्य पोंगल' कहते हैं। इस दिन नये धान को कूटकर निकाला गया चावल दूध, घी और गुड़ के साथ नये घड़े में उबाला जाता है। इस प्रकार जो खीर तैयार होती है उसे सूर्य देवता को अर्पित किया जाता है और उस पोंगल वाले पात्र की पूजा होती है। उस दिन सर्वत्र सूर्य-पूजा का ही दृश्य दिखाई देता है। लोग एक-दूसरे से पूछते हैं—क्या पोंगल हो गया। उत्तर मिलता है--हाँ, हो गया। उस दिन सभी नर-नारी, बाल-वृद्ध नये कपड़ों में होते हैं।

पोंगल पर्व का तीसरा दिन मट्टु पोंगल कहलाता है। मट्टु का अर्थ है पशु। यह पशुओं के आदर-सत्कार का, साज-शृंगार का दिन होता है। उस दिन सूर्य देव को चढ़ाई हुई खीर पशुओं को भी खिलाई जाती है। उसका गोला बना-

कर खुले मैदान में भी रख देते हैं जिससे पक्षी भी अपना भाग पा सकें। पास के जलाशय में पशुओं को नहलाया जाता है और उनके सींगों को तेल और रंगों से रंगकर उनका शृंगार किया जाता है। बैलों और बछड़ों के गले में छोटी-छोटी घंटियाँ बाँधते हैं और उन्हें फूल-मालाओं से भी सजाते हैं। इस प्रकार पोंगल पर्व का तीसरा दिन पशुओं की पूजा का दिन हो जाता है। इससे किसान के जीवन में पशुओं की महत्ता को स्वीकार किया जाता है और उनके प्रति सत्कार प्रकट किया जाता है।

पोंगल पर्व की समाप्ति के दिन रात को पंचायती भोज होता है। इसमें नई फसल का चावल बड़े प्रेम से खाया जाता है। भोज में सभी वर्गों के लोग बिना ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, अमीर-गरीब के भेद-भाव के सम्मिलित होते हैं। यहाँ तक कि यदि कोई यात्री भी उस अवसर पर उधर आ निकलता है तो उसे भी भोज में सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रित किया जाता है।

पोंगल पर्व पर जो धार्मिक कृत्य होते हैं उनसे भी बढ़कर आकर्षण साँड़ों से भिड़न्त का प्रदर्शन होता है। इसे जाल्लिकट्टु कहते हैं। यों तो यह प्रदर्शन प्रायः हर गाँव और हर नगर में होता है। पर मदुराई, त्रिरुचिरा-पल्ली, तंजौर आदि कुछ बड़े नगरों में साँड़ों से भिड़न्त के प्रदर्शन बड़े समारोह के साथ आयोजित होते हैं। इन्हें देखने के लिए लाखों की भीड़ इकट्ठी होती है।

होता यह है कि बलिष्ठ साँड़ों के सींगों से नोटों के बंडल बाँध दिये जाते हैं। फिर साँड़ों को उत्तेजित करके मैदान में इधर-उधर भगाया जाता है। साहसी युवक भागते हुए उत्तेजित साँड़ों के सींगों से नोटों के बंडल झपट लेने का प्रयत्न करते हैं। यह काम बड़े जोखिम का होता है। इसमें साहस तो चाहिए ही, होशियारी भी बहुत चाहिए। साँड़ों से भिड़न्त का डर हमेशा रहता है। सींगों से उलझ जाने पर भारी चोट आ जाने का भय रहता है। इस बात की भी आशंका हमेशा रहती है कि भागते हुए साँड़ों की चपेट में आकर उनके पैरों के नीचे कुचल न जायें। प्रदर्शन में भाग लेने वाले युवकों की जान हर क्षण खतरे में रहती है। दर्शक मंडली साँस रोककर यह प्रदर्शन देखती है। किसी युवक के अपने प्रयास में सफल होने पर दर्शकों में प्रसन्नता की लहर दौड़ जाती है और तालियों की गड़गड़ाहट से मैदान गूंज उठता है जिससे उत्तेजित बैल और भी तेजी से भागने लगते हैं। हर वर्ष कोई न कोई दुर्घटना भी हो ही जाती है।

प्राचीन तमिल साहित्य में पोंगल पर्व पर साँड़ों से भिड़न्त के बड़े रोमांचकारी वर्णन मिलते हैं। इन वर्णनों से प्रतीत होता है कि ऐसी भिड़न्तों में विजयी बने युवकों को प्रायः युवतियाँ अपना पति चुन लेती थीं। तब साँड़ों के सींगों में नोटों के बंडल नहीं बाँधे जाते थे। अपनी शूर-वीरता का प्रदर्शन करना ही युवकों का लक्ष्य होता था। पुरस्कार में किसी-किसी को सुन्दर युवतियाँ वधू रूप में मिल जाती थीं। कुछ पिता तो इन भिड़न्तों में ही अपने दामाद चुन लेते थे।

एक प्राचीन तमिल ग्रंथ 'कलित्ताहै' में एक भिड़न्त का वर्णन इस प्रकार है :—

गांव के चरागाह पर मदमाते बैल इकट्ठे हुए हैं। वे रँभाते और पूंछ ऊपर उठाते हुए वीर गोप युवकों से भिड़ने के लिए अधीर खड़े हैं। दर्शकों की भीड़ लगी है। विशेषकर कुँआरी लड़कियों की पंक्ति बहुत लालायित है विजेता युवकों की प्रशंसा करने को। यह शर्त भी सुना दी गई है कि कई कन्याओं के पिता इस भिड़न्त में जीतने वाले वीर युवकों को अपने दामाद के रूप में चुन लेंगे। फिर क्या ? सभी युवकों को इस स्वयंवर में विजयी बनने की लालसा लग गई है। इनमें कई ऐसे वीर युवक भी हैं जिनकी अपनी-अपनी प्रेमिका हैं। विवाह के लिए केवल इस भिड़न्त में विजयी बनने की प्रतीक्षा है। वे प्रेमिकाएं भी कम अधीर नहीं हैं।

भिड़न्त शुरू हो गई। युवक अपने-अपने प्रतिद्वन्द्वी साँड़ों से जूझ पड़े। साँड़ अपने तीखे सींगों से करारा जवाब देने लगे। युवक पूरा बल और कौशल लगाकर उन्हें वशीभूत करने के प्रयत्न में लग गये। भिड़न्त तेज हो चली। कुछ युवक घायल हुए; कुछ रक्त में लथपथ हो गये; कुछ अधमरे बन गये; कुछ अखाड़ा छोड़कर भाग निकले। किन्तु ऐसे भी युवक थे जो प्राणों की चिन्ता न कर बैलों से भिड़कर बाजी मार के ही निकले। उनकी विजय के उल्लास में दर्शक मंडली झूम उठी। प्रेमिकाएँ लोक-लाज छोड़कर उनसे जा लिपटीं। विजयी वीरों की सारी थकान मिट गई, उन्हें अपने घाव भूल गये। पोंगल पर्व मानो अपने हर्षोल्लास की चरम सीमा पर पहुँच गया।

गणपति-उत्सव

गणेश हिन्दुओं के प्रिय देवता हैं। विद्या-बुद्धि के दाता और विघ्नों का नाश करने वाले हैं। हिन्दुओं का हर धार्मिक कर्म गणेश पूजन से आरम्भ होता है। दूसरे देवताओं का स्थान गणेश के बाद आता है। गणेश ने देवताओं में पहला स्थान कैसे प्राप्त किया, इसकी कथा हममें से बहुतों ने पढ़ी होगी। हर कार्य के आरम्भ में 'गणेशाय नमः' हमारे मुंह से प्रायः अपने आप निकल जाता है। इसी से 'श्री गणेश करना' कार्य आरम्भ करने का दूसरा नाम ही हो गया है। गणेशजी के नाम पर हर महीने में गणेश-चतुर्थी का पर्व आता है जब धार्मिक हिन्दू व्रत रखकर गणेश-पूजन करते हैं। लेकिन भादों मास की गणेश-चौथ का विशेष महत्त्व है। इस दिन गणेश जी का उत्सव उसी उत्साह से मनाया जाता है जिस प्रकार शिवरात्रि के अवसर पर शिवजी का, कृष्णाष्टमी के अवसर पर कृष्ण जी का या रामनवमी के अवसर पर श्री रामचन्द्र जी का।

यों तो सारे भारत में भादों मास के उजेले पक्ष की चौथ को गणपति-उत्सव के उत्साहवर्धक दृश्य दिखाई देते हैं किन्तु उसका जो रूप महाराष्ट्र में दिखाई देता है वह दूसरी जगह दुर्लभ है। गणपति-उत्सव महाराष्ट्र का मानो अपना विशेष पर्व बन गया है। इस अवसर पर महाराष्ट्र में वही उल्लास, वही क्रियाशीलता और वैसी ही तैयारियाँ देखने को मिलती हैं जैसी दुर्गा-पूजा के अवसर पर बंगाल में या रामलीला और दशहरा के अवसर पर उत्तर भारत में दिखाई देती हैं।

महाराष्ट्र में गणपति-उत्सव को एक राष्ट्रीय पर्व के स्तर तक उठाने का श्रेय लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक को है। पहले महाराष्ट्र में भी गणपति-उत्सव घरों के अन्दर पारिवारिक व्रत-उपवास और पूजन के रूप में मनाया जाता था। उसका कोई सार्वजनिक रूप नहीं था। यह जरूर है कि दूसरे प्रदेशों की तुलना में महाराष्ट्र में इस उत्सव का मान तब भी अधिक था। इसका एक कारण यह था

कि जब महाराष्ट्र में पेशवाओं का शासन था तब गणपति उनके कुल-देवता थे। पेशवा शासक बड़ी शान-शौकत के साथ हर वर्ष गणपति-उत्सव मनाते थे और उस पर हजारों-लाखों रुपये खर्च करते थे। अपनी प्रजा को भी गणपति-उत्सव मनाने के लिए वे प्रोत्साहित करते थे।

पेशवा शासन का अन्त होने पर गायकवाड़, सिंधिया, होल्कर, भोंसले आदि जिन राजवंशों के हाथ में सत्ता आई वे भी गणेश के भक्त थे और उनके यहाँ भी गणपति-उत्सव की परम्परा चलती रही थी। सारे महाराष्ट्र के घर-घर में गणेश की प्रतिमा न जाने कब से पूजित होती आई थी।

लोकमान्य तिलक ने गणेश की इस लोक-प्रियता को पहचाना। वह देश की स्वतंत्रता की लड़ाई में लगे हुए अपने समय के एक महान नेता थे। अंग्रेजी शासन की दासता से देशवासियों को मुक्त कराने के लिए उन्होंने ही यह मन्त्र फूँका था कि 'स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और हम उसे लेकर रहेंगे।' सन् 1893 ई० में लोकमान्य तिलक ने गणपति-पूजन को घरों के अन्दर से निकालकर उसे सार्वजनिक रूप दे दिया। कुछ घरों में गणेश-पूजन डेढ़ दिन चलता था, कुछ में पाँच दिन, कुछ में सात दिन और कुछ में दस दिन। लोकमान्य तिलक ने अपने अन्य साथियों के परामर्श से यह निश्चय किया कि गणपति-उत्सव दस दिन तक मनाया जाय जिसके कार्यक्रमों में सभी लोग एक साथ सम्मिलित हों। यह भी निश्चय किया गया कि धार्मिक व्याख्यानों और कीर्तन-भजन के अतिरिक्त इन कार्य-क्रमों में सामाजिक, सांस्कृतिक और कलात्मक विषयों पर भाषण को भी स्थान दिया जाय। लोकमान्य का कहना था कि कभी-कभी वर्तमान राजनीतिक समस्याओं पर भी चर्चा हो जाय तो किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

इस प्रकार गणपति-उत्सव को लोकमान्य तिलक ने सामाजिक, धार्मिक सांस्कृतिक और राजनीतिक जागरण फैलाने का एक साधन बना दिया। उस समय के शासकों को लोकमान्य की यह नीति बहुत खटकी। परन्तु गणपति-उत्सव के इस नये रूप का प्रचार इतनी तेजी से हुआ कि कुछ वर्षों में वह महाराष्ट्र के बड़े शहरों से लेकर कस्बों और छोटे से छोटे गाँवों तक फैल गया। गणपति-उत्सव-समितियों का निर्माण पूरे महाराष्ट्र में हो गया। इसमें सन्देह नहीं कि महाराष्ट्र में जो सामाजिक और राजनीतिक जागरूकता बाद के वर्षों में आई उसमें गणपति-उत्सव के आयोजनों का बड़ा हाथ रहा है।

गणपति-उत्सव मनाने का महाराष्ट्र का अपना ढंग है जिसमें परम्परा से चलते आये पारिवारिक पूजन और सार्वजनिक प्रदर्शन का अद्भुत सम्मिश्रण मिलता है। उत्सव का प्रारम्भ हर घर में गणेश की प्रतिमा की स्थापना और उसमें प्राण-प्रतिष्ठा के धार्मिक कर्म से होता है। फिर हर सुबह और शाम प्रतिमा का पूजन-अर्चन होता है जब तक कि उत्सव-समाप्ति के दिन उसे जल में प्रवाहित

न कर दिया जाय।

सार्वजनिक समारोह के स्थानों पर भी मण्डप के नीचे गणेश की प्रतिमा स्थापित की जाती है और सिन्दूर से पोतकर फूल मालाओं से उसका शृंगार किया जाता है। इस प्रतिमा के सामने दस दिन तक सभाएं होती हैं। भजन-कीर्तन के साथ-साथ मनोरंजन के कार्य-क्रम भी चलते हैं। नाटक खेले जाते हैं, कविताएँ सुनाई जाती है और तरह-तरह की प्रतियोगिताएँ होती है। कार्यक्रम का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग वह है जिसमें प्रसिद्ध सामाजिक और राजनीतिक नेताओं के भाषण होते हैं। इन भाषणों के द्वारा श्रोताओं को उनके विगत गौरव का स्मरण कराया जाता है। वेदों, ब्राह्मणों-ग्रन्थों, रामायण, महाभारत, जातक-ग्रन्थों की कथाएं सुनाकर और प्राचीन सन्त-महात्माओं के जीवन से उदाहरण देकर देश-वासियों में यह बोध जगाया जाता है कि भारत की धार्मिक और सांस्कृतिक परम्पराएँ महान् रही है और उनकी रक्षा करना हमारा धर्म है। इन भाषणों में देश की वर्तमान दुर्दशा का भी वर्णन रहता है। उनसे हम कैसे छुटकारा पा सकते हैं, इसके उपायों पर भी प्रकाश डाला जाता है। इस प्रकार गणपति-उत्सव के अवसर पर दस दिन तक चलने वाले ये सार्वजनिक कार्यक्रम जन-शिक्षा के शक्तिशाली साधन बन गए है। इन कार्यक्रमों में सभी वर्ग के लोग बराबरी के स्तर पर भाग लेते है। जाति-पाँति, ऊँच-नीच का भेद-भाव एकदम मिट जाता है। मुख्य रूप से हिन्दुओं का पर्व होते हुए भी गणपति-उत्सव के कार्यक्रमों में अब पारसी, मुसलमान, यहूदी और ईसाई सम्प्रदाय के लोग भी भाग लेने लगे है।

गणपति-उत्सव का भव्य सार्वजनिक प्रदर्शन अन्तिम दिन देखने को मिलता है जब गणेश की घर-घर में पूजित प्रतिमाओं का जुलुस निकलता है। हर छोटी-बड़ी प्रतिमा फूल मालाओं से खूब सजाई गई होती हैं। उसे पौराणिक या कभी-कभी आधुनिक राजनीतिक दृश्यावली के मध्य इस प्रकार रखा जाता है कि मनोरंजन के साथ-साथ वह एक विशेष सन्देश भी देती प्रतीत होती है। प्रतिमाएं किसी न किसी प्रकार के वाहन पर रखी होती हैं जबकि उनके आगे-पीछे जन-समूह पैदल चलता है। जुलूस अपने निश्चित मार्ग से उस स्थान की ओर बढ़ता जाता है जहां प्रतिमाओं को जल में प्रवाहित किया जाता है। बीच-बीच में घरों से निकालकर लाई हुई प्रतिमाओं के मिलने से जुलूस की लम्बाई बढ़ती चलती है। चारों ओर उत्साह का समुद्र उमड़ता दिखाई देता है। आगे बढ़ते हुए जुलूस में कहीं लेजिम का खेल दिखाने वाले अपनी कला से दर्शकों को मोह रहे हैं तो कहीं नृत्य और संगीत के चल-दृश्य अपनी सुन्दरता से जुलूस में चार चांद लगा रहे है। गुलाल और फूल की पंखुड़ियां की वर्षा हर दिशा से होती है। बच्चों की उछल-कूद का तो कहना ही क्या।

गणपति-उत्सव की समाप्ति के दिन जुलूस का यह दृश्य महाराष्ट्र के बड़े शहरों से लेकर छोटे गांवों तक में देखा जा सकता है। बम्बई और पूना

जैसे बड़े शहरों में जुलूस मीलों लम्बे होते हैं और उनमें सैकड़ों प्रतिमाएँ होती हैं तो छोटे गाँवों में उनकी संख्या कम होगी ही। लेकिन धार्मिक उत्साह सर्वत्र एक-सा होगा।

जब जुलूस उस स्थान पर पहुँचता है जहाँ गणेश की प्रतिमाओं को जल में विसर्जित करना होता तो वहाँ एक ही नारा सुनाई देता है—

गणपति बापा मोरया, पुढल्या वर्षि लवकर या ॥

अर्थात् ओ गणपति पिता, अगले वर्ष शीघ्र आना।

ओणम

ओणम केरल का त्यौहार है। केरलवासियों में इसका वही महत्त्व है जो उत्तर भारत में विजयादशमी या दीपावली का या पंजाब में बैसाखी का। ओणम केरल का सबसे बड़ा त्यौहार माना जाता है। केरल में इसे सभी जातियों, धर्मों और सम्प्रदायों के लोग समान उत्साह से मनाते हैं। ओणम का त्यौहार हर साल अगस्त-सितम्बर में आता है। मलयाली सम्वत् के अनुसार यह महीना सावन का होता है। ओणम शब्द कदाचित् सावन शब्द का ही बदला हुआ रूप है। इस त्यौहार का इतिहास बहुत पुराना है।

पुराणों में विष्णु भगवान के वामन अवतार और बलि की कथा प्रसिद्ध है। जब विष्णु ने वामन का अवतार धारण किया उस समय मलयालम प्रदेश बलि के राज्य में था। उसके अच्छे शासन के सम्बन्ध में मलयालम भाषा में अनेक सुन्दर कविताएँ मिलती हैं। एक कविता का भाव यह है कि बलि के राज में चोरी नहीं होती थी और न चोरों का डर था। बलि को अपने अच्छे शासन पर गर्व था। विष्णु भगवान को इससे ईर्ष्या होने लगी। उन्होंने बलि को दण्ड देना चाहा। वामन का रूप धारण करके भिक्षा माँगने के लिए वह बलि के पास पहुँचे। बलि ने कहा—जो चाहो, माँग लो। वामन ने तीन पग पृथ्वी माँगी और बलि ने तुरन्त यह प्रार्थना स्वीकार कर ली। अब विष्णु भगवान ने अपना विराट रूप प्रकट किया। दो पगों में उन्होंने सारा ब्रह्माण्ड नाप लिया। [illegible] पृथ्वी उन्हें चाहिए थी। बलि को अपनी [illegible] घमण्ड जाता रहा। लेकिन अपने वचन से वह [illegible] के बदले उसने अपना सिर नवा दिया और [illegible] पाताल लोक को चला गया। [illegible] वरदान माँगा कि उसे हर वर्ष [illegible] अनुमति दी जाए। विष्णु ने [illegible]

कि तभी से बलि हर साल ओणम पर्व के अवसर पर मलयालम की यात्रा पर आता है। उसके स्वागत का वार्षिक समारोह केरल निवासियों के लिए हँसी-खुशी से भरा त्यौहार बन जाता है।

ओणम त्यौहार के विषय में एक और भी कथा प्रचलित है। उसके अनुसार परशुराम ने सारी पृथ्वी जीतकर ब्राह्मणों को दान दे दी। अपने रहने के लिए भी स्थान नहीं रखा। जो भूमि दान दे दी उस पर कैसे रहे ? तब सह्याद्रि पर्वत की एक कंदरा में बैठकर उन्होंने जल के स्वामी वरुण की आराधना की। उनके कठिन तप से वरुण देवता प्रसन्न हो गये और प्रकट होकर बोले—तुम यहीं से अपना परशु समुद्र में फेंको, जहाँ वह गिरेगा, वहाँ तक की भूमि तुम्हारी हो जाएगी। परशुराम ने ऐसा ही किया और इस प्रकार जो भूमि उन्होंने समुद्र से प्राप्त की उसका नाम परशु-क्षेत्र हुआ। उसी को आजकल केरल या मलयालम कहते हैं। इस घटना की स्मृति में परशुराम ने एक मन्दिर बनाया और उसमें भगवान विष्णु की मूर्ति स्थापित की। वही आजकल तिरुक्ककर अप्पण के नाम से प्रसिद्ध है। जिस दिन परशुराम ने भगवान विष्णु की मूर्ति की स्थापना की थी उसकी पुण्य स्मृति में ओणम का पर्व मनाया जाता है।



पुराणों की इन कथाओं के साथ ओणम का त्यौहार एक और भी चीज से जुड़ा है। यह त्यौहार ऐसे समय आता है जब वर्षा के बाद केरल की भूमि हरी-

भरी, बड़ी मन-भावनी बन जाती है। नारियल और ताड़ के वृक्षों के झुरमुटों के बीच बड़े-बड़े सरोवर जल से भरकर लहराते रहते हैं। चाय, अदरक, इलायची, कालीमिर्च के अलावा धान के खेत भी पककर कटने को तैयार होते हैं। रंग-बिरंगे सुगंधित फूलों से दिशाएँ गमकती रहती हैं। वर्षा की अधिकता से छुट्टी पाकर किसान प्रसन्न होते हैं और नई फसल को घर में लाने की तैयारियों में लगे होते हैं। केरल के हर घर के लिए साल का यह सर्वोत्तम समय होता है। हरएक के मन में नई आशा और नये उत्साह का राज्य होता है। आश्चर्य नहीं कि केरल वासियों का सबसे बड़ा त्योहार ओणम इस सुन्दर ऋतु-परिवर्तन के उपलक्ष्य में ही आरम्भ हुआ हो।

ओणम का मुख्य त्योहार तिरुओणम के दिन मनाया जाता है। किन्तु उसकी तैयारियाँ दस दिन पहले से होने लगती हैं। छोटे बच्चों का इन तैयारियों में बड़ा हाथ होता है। हर सायंकाल वे घरों से निकल जाते हैं और ढेर का ढेर फूल इकट्ठा करके लाते हैं। दूसरे प्रातःकाल ये फूल घर के सामने एक विशेष स्थान पर जो गोबर से लीप कर स्वच्छ और पवित्र बना दिया गया रहता है गोलाई में सजा दिये जाते हैं। घर की सजावट भी फूल-मालाओं से की जाती है। हर घर के दरवाजों पर फूलों की मालाएँ लटकती दिखाई देती हैं। ओणम त्योहार आरम्भ होने के पहले ही दिन हर घर में विष्णु की प्रतिमा स्थापित की जाती है और इस अवसर पर लोग विशेष प्रकार के व्यंजनों का भोजन करते हैं। इस भोज को पूवट कहते हैं। स्त्रियाँ थप्पत्तिकलि नाम के नृत्य से मनोरंजन करती हैं। यह नाच गोलाई में होता है। वृत्त का आकार बनाकर स्त्रियाँ ताली बजाती हुई नाचती जाती हैं और विष्णु भगवान की प्रार्थना के गीत गाती जाती हैं। बच्चे वामन भगवान की आराधना के आवेगपूर्ण गीत गाते हैं। इन गीतों को ओण लप्पण कहते हैं। ज्यों-ज्यों तिरुओणम का दिन पास आता है त्यों-त्यों घरों के सामने सजाये जाने वाले फूलों की संख्या में वृद्धि होती जाती है। उनसे जो वृत्त बनाया जाता है उसका आकार भी बड़ा होता जाता है। आखिर के चार दिन तो बड़ी ही चहल-पहल के होते हैं।

तिरुओणम के एक दिन पहले परिवार का सबसे वृद्ध व्यक्ति बड़े सबेरे सब सदस्यों को स्नान के बाद पहनने के लिए नये वस्त्र देता है। रात में वामन देव की मिट्टी की मूर्ति तैयार की जाती है। उसके सामने मंगल-दीप जलाये जाते हैं।

दूसरे दिन तिरुओणम का मुख्य त्योहार मनाया जाता है। तब वामन देव और [illegible] की देवी का विधि के साथ पूजन होता है। लड़कियाँ उन्हें [illegible] नाम के [illegible] की भेंट चढ़ाती हैं और लड़के तीर चलाकर इस भेंट को प्रसाद रूप में [illegible] प्राप्त करते हैं।

तिरुओणम के दिन हर घर में विशेष भोजन का आयोजन होता है। सारे

के जलपान में भुने हुए या भाप में पकाये हुए केले खाये जाते हैं जिसे नेन्द्रम कहते हैं। यह जलपान नेन्द्रकाय नाम के विशेष केले से तैयार किया जाता है जो केवल केरल में ही पैदा होता है। भोजन की चीजों में चावल, दाल, पापड़ और केले के पकवान की प्रधानता होती है।

ओणम के अवसर पर केरल के लोग गणेश की भी आराधना करते हैं। संध्या समय विष्णु की सभी मूर्तियाँ एक तख्ते पर रखी जाती हैं और पूजन के बाद उन्हें आदर के साथ निकट के किसी जलाशय में विसर्जित कर दिया जाता है।

ओणम पर्व के अवसर पर केरल में घरों के अन्दर धार्मिक कार्य, पूजा-पाठ और स्वादिष्ट भोजनों के आयोजन तो होते ही हैं, सार्वजनिक मनोरंजन के भी कार्यकलाप कम आकर्षक नहीं होते। इनमें नौका-दौड़ का स्थान मुख्य है। मलयालम भाषा में इसे वल्लुम्कली कहते हैं। वल्लुम्कली में भाग लेने वाली नौकाएँ विविध आकृतियों की होती हैं। ये लम्बी, पतली और मुड़े हुए सिरों वाली होती हैं। कुछ का आकार सर्प की तरह का होता है तो कुछ का मछली की तरह का और कुछ की बनावट चोंच की आकृति की होती है। ये नावें इतनी लम्बी होती हैं कि उन्हें एक साथ सौ-सौ आदमी तक खेते हैं। नावों के ऊपर लाल रंग के रेशमी छत्र तने रहते हैं। खेने वाले एक विशेष प्रकार का गीत गाते चलते हैं जिसे वांची पट्टक्कल कहते हैं—अर्थात् नाव का गीत। नौका-दौड़ की प्रतियोगिता देखने के लिए हजारों आदमी सागर-तट पर खड़े होते हैं। केरल में सागर भी तो ऐसा ही है कि स्थान-स्थान पर केरल की भूमि के अन्दर घुस आया है। इससे नौका-दौड़ की प्रतियोगिता में और भी आसानी होती है।

केरल में मार्च-अप्रैल में 'विशु' का त्यौहार मनाया जाता है। इस दिन नई चीजें खरीदी जाती हैं और गरीबों में दान बाँटा जाता है। फिर अप्रैल-मई में 'पूरम्' का त्यौहार आता है जब त्रिचूर नगर के वडक्कुनाथन् मंदिर में दर्शन के लिए हजारों यात्री एकत्र होते हैं। इस अवसर पर हाथियों का जुलूस निकाला जाता है और रात में आतिशबाजी होती है। दीपावली, दशहरा, सरस्वती-पूजा और नाग-पूजा के त्यौहार भी अपने समय पर केरल में मनाये जाते हैं। पर ओणम त्यौहार का स्थान सबके ऊपर है।

ईद

ईद मुसलमानों का सबसे बड़ा त्योहार है। हर देश के मुसलमान इसे मनाते हैं। यह त्योहार प्रसन्नता, परोपकार और भाईचारे का सन्देश लेकर आता है। ईद का पूरा नाम ईद-उल-फितर या ईदुल्फितर है। ईद अरबी भाषा का शब्द है। इस शब्द का अर्थ है प्रसन्नता या खुशी। ईद शब्द का एक दूसरा अर्थ भी बताया जाता है। कहते हैं 'ईद' का अर्थ है 'लौटना' और 'फितर' का अर्थ 'खाना-पीना'। यह त्योहार हर वर्ष लौटकर आता है, इसलिए इसे 'ईद' कहा जाता है; और क्योंकि मुसलमान लोग एक महीने का व्रत रखने के बाद ईद के दिन खाना-पीना शुरू करते हैं, इसलिए इस त्योहार का नाम ईद-उल-फितर हुआ। जो कुछ भी हो, इस त्योहार का यह नाम जिस कारण भी पड़ा हो, इसमें सन्देह नहीं कि ईद हँसी-खुशी का पैगाम लेकर आती है।

ईद का आरम्भ कैसे हुआ? इसका एक इतिहास है। इस्लाम धर्म की स्थापना करने वाले मुहम्मद साहब ने एक मास मक्का में एक गुफा में भूखे-प्यासे रहकर ईश्वर की आराधना में बिताया था। मुसलमान लोग इस घटना की याद में आज भी एक महीने का रोजा रखते हैं। यह रोजा रमजान के महीने में रखा जाता है। रमजान की समाप्ति पर शिवाल माह की पहली तारीख को ईद मनाई जाती है। इस्लामी सम्वत् में महीनों का हिसाब चांद के दिखाई देने पर निर्भर होता है। इसलिए इस्लामी महीने हिन्दू या ईसाई महीनों के समानान्तर नहीं चलते। हिन्दुओं या ईसाइयों के त्योहार ठीक एक साल बाद आते हैं। यह बात मुसलमानों के त्योहारों पर लागू नहीं होती। यही कारण है कि ईद कभी जाड़े के मौसम में पड़ती है तो कभी बरसात में और कभी घोर गर्मी के दिनों में भी वह आ जाती है।

ईद का एक रूप अरबवासियों में मुहम्मद साहब के पहले भी प्रचलित था। वह भी हँसी-खुशी से भरा रूप था। लेकिन उसमें ईश्वर का नाम नहीं था।

कोई अनैतिक या अधार्मिक कार्य न हो। इन दिनों कई बार नमाज़ पढ़ना जरूरी उसमें परोपकार और भाई-चारा भी नहीं था। उसमें केवल खेलतमाशे थे जिनके लिए एक-दो दिन का मेला होता था और जहाँ इकट्ठे होकर लोग अपने मुँह अपनी तारीफ में समय बिता देते थे। जब मुहम्मद साहब मक्का से मदीना पहुँचे तो उन्होंने वहाँ के लोगों को ईद इसी तरह मनाते देखा। उन्हें यह बात नहीं जँची। उन्होंने लोगों को समझाया कि हँसी-खुशी तो ठीक है, लेकिन आदमी के लिए अच्छा है कि अपनी तारीफ करने की जगह वह अपने बनाने वाले खुदा की तारीफ और प्रार्थना में समय लगाये। मुहम्मद साहब की बात का असर हुआ। लोग ईश्वर की प्रशंसा में नमाज पढ़ने लगे। मुहम्मद साहब को अपने रोज़ा के दिनों में ईश्वरीय सन्देश मिलते थे। उन्हीं का संग्रह मुसलमानों के धर्म-ग्रंथ कुरान शरीफ में किया गया। जब लोगों को यह बात मालूम हुई तो रोजा और ईश्वर-प्रार्थना का महत्त्व उनकी समझ में आने लगा। लोगों ने रमजान-भर रोजा रखना शुरू किया। उसके बाद ईद त्यौहार का रूप बदलकर धार्मिक हो गया। ईद कुरान शरीफ की उत्पत्ति की खुशी में मनाया जाने वाला त्यौहार बन गया। अतएव हम कह सकते हैं कि ईद कुरान शरीफ की वर्षगाँठ है।



रमजान माह के पूरे तीस दिन मुसलमानों के लिए उपवास के दिन होते हैं। पुरुष, स्त्री, बूढ़े, बच्चे जवान सभी के लिए इन दिनों रोज़ा रखना जरूरी माना जाता है। जो लोग पूरे तीस दिन रोजा नहीं रख सकते उनकी भी कोशिश होती है कि कुछ दिन रोजे में बितायें। लोग दिन-भर उपवास रखकर अपना

सारा समय ईश्वर की आराधना में बिताते हैं और प्रयत्न करते हैं कि उनके द्वारा होता है। सूर्य डूबने के बाद ही पानी पीने और कुछ खाने का नियम है। उधर सवेरा होने के पहले भी लोग कुछ खा-पी लेते हैं। मतलब यह कि सूरज निकलने और सूरज डूबने के बीच कुछ भी खाना-पीना मना है। यह समय सिर्फ़ ईश्वर-आराधना का है।

इस तरह जब रमजान माह के कठिन तीस दिन उपवास में बिता लिए जाते हैं तब हँसी-खुशी से भरा ईद का त्यौहार आता है। ईद का निश्चय नये चाँद के दर्शन के बाद ही होता है। इसलिए सभी मुसलमान ईद के चाँद के दर्शन के लिए उत्कंठित रहते हैं। रमजान माह का अन्त होते-होते यह उत्कंठा अपनी सीमा पर पहुँच जाती है। सब की आँखें संध्या होते ही आकाश पर जा टिकती हैं। चाँद दिखाई पड़ा नहीं कि प्रसन्नता की लहर चारों ओर फैल जाती है। रोज़ों के कष्ट से छुट्टी मिल जाती है और दूसरे दिन आने वाले ईद के त्यौहार की शुभ सूचना से लोग नाचने लगते हैं।

ईद की तैयारियाँ पूरे रमजान माह क्या उससे भी पहले से चलती रहती हैं। ईद के दिन हर मुसलमान के तन पर नये वस्त्र होने जरूरी हैं। एक-दो दिन पहले घरों की लिपाई-पुताई भी उतनी ही जरूरी समझी जाती है। ईद के दिन हर मुसलमान के घर में खीर-सेंवइयाँ चाव से बनाई जाती हैं।

ईद के दिन प्रातःकाल से ही हर मुसलमान के घर में खूब चहल-पहल दिखाई देती है। नये कपड़े पहनकर बूढ़े, बच्चे, जवान सभी ईदगाह में नमाज के लिए जाते हैं। ईद की नमाज अन्य किसी मस्जिद में न पढ़कर ईदगाह में ही पढ़ी जाती है। ईदगाह विशाल खुली मस्जिद को कहते हैं जो प्रायः नगर के बाहर या खुले मैदान में होती है और जहाँ मुसलमान बड़ी संख्या में एक साथ नमाज पढ़ सकते हैं। ऐसा नियम इसलिए भी बनाया गया लगता है कि ईदगाह में आसपास के सभी लोग एक-दूसरे से मिल सकें। ईदगाह में हजारों मुसलमान एक साथ एक धार्मिक नेता के पीछे नमाज पढ़ते हैं। सभी नमाज पढ़ने वाले प्रार्थना में एक साथ अपने बनाने वाले ईश्वर के सामने झुकते हैं और उसे धन्यवाद देते हैं कि उसकी कृपा से रमजान के व्रत के दिन पूरे हुए। साथ ही वे ईश्वर से अपने पापों और कमियों के लिए क्षमा-याचना करते हैं।

सवेरे ईद की नमाज के बाद ही लोगों का गले मिलना शुरू हो जाता है और यह सिलसिला कुछ रात जाने तक चलता रहता है। सगे-सम्बन्धी, मित्र-बंधु सभी एक-दूसरे के यहाँ जाते हैं, गले मिलते हैं, ईद की बधाई देते हैं और खीर-सेंवइयों का आनन्द लेते हैं। घरों की बैठकों के अलावा इस दिन की भीड़-भाड़ सड़कों और गलियों में भी देखने लायक होती है। [illegible] देखो लोग गले मिल रहे हैं और एक-दूसरे को बधाइयाँ दे रहे हैं। मुसलमानों तक ही यह हँसी-खुशी सीमित नहीं रहती। हिन्दू, ईसाई आदि अन्य धर्मों के लोग भी ईद के दिन अपने मुसल-

मान मित्रों के घर जाकर उन्हें बधाई देते हैं और खीर-सेंवइयाँ खाते हैं।

ईद का दिन सभी के लिए समानता का सन्देश लेकर आता है। उस दिन अमीर-गरीब, छोटे-बड़े का अन्तर मिट जाता है। सभी एक-दूसरे से बराबरी के स्तर पर मिलते हैं। 'इदुल्फितर' शब्द में 'फितर' का एक अर्थ खैरात देना भी है। इस दिन हर मुसलमान कुछ दान या खैरात देना अपना धर्म समझता है। इससे किसी हद तक समानता का प्रचार होता है। दान देने में इस बात का ध्यान रखा जाता है कि वह गरीब से गरीब आदमी को मिले। यह दान इसलिए भी दिया जाता है कि गरीब से गरीब आदमी भी ईद की हँसी-खुशी में शामिल हो सके। फिर, यह दान एक तरह का प्रायश्चित्त भी है कि रोजा के दिनो में जो भूल-चूक हो गई हो उसके पाप से मुक्ति मिल जाय।

ईद के त्यौहार के मौके पर बाजारों में व दुकानों पर भी एक नई रौनक आ जाती है। कपड़ो, मिठाइयो और खिलौनो की दुकानें विशेष रूप से सज जाती हैं। ईदगाहों के आस-पास भी थोड़े समय के लिए नये बाजार पैदा हो जाते हैं और बड़े उत्साह के साथ चीजों का क्रय-विक्रय चलता है। चारों ओर मेले का-सा दृश्य बन जाता है। खेल-तमाशे दिखाने वाले भी पहुँच जाते हैं। बूढ़े-बच्चे सभी खुशी में विभोर दिखाई देते हैं। दिन कब और कैसे बीत गया, किसी को मालूम ही नहीं होता।

मुहर्रम

मुहर्रम हँसी-खुशी का त्यौहार नहीं, वरन् गमी का अवसर है। सभी मुसलमान इसे मनाते हैं, किन्तु शिया मुसलमानों में इसकी विशेष मान्यता है। मुहर्रम इमाम हुसेन अली और उनके साथियों की यादगार में मनाया जाता है जो कर्बला के मैदान में शहीद हो गए थे। यह घटना ६८० ई० की हैं। इस्लामी सम्वत् के अनुसार वह महीना मुहर्रम का था। इसलिए गमी के इस अवसर का नाम ही मुहर्रम पड़ गया है। हिन्दू या ईसाई त्यौहारों की तरह मुहर्रम हर साल ठीक बारह महीने बाद नहीं आता। हर साल यह लगभग १२ दिन आगे बढ़ता जाता है। इसका कारण यह है कि इस्लामी सम्वत् में महीनों का हिसाब चन्द्रमा के दिखाई देने से लगाया जाता है जिसमें कुछ घट-बढ़ होता रहता है। हिन्दू और ईसाई सम्वतों में महीनों का हिसाब सूर्य पर आधारित है। इसलिए हिन्दू और ईसाई त्यौहार ठीक एक साल बाद आते हैं।

इमाम हुसेन जिनके बलिदान की यादगार में मुहर्रम मनाया जाता है इस्लाम धर्म के संस्थापक हजरत मुहम्मद साहब की लड़की बीबी फातिमा के पुत्र थे। उनके पिता का नाम इमाम अली था। मुहम्मद साहब की मृत्यु के बाद खलीफाओं की परम्परा चली। खलीफा इस्लाम धर्म की रक्षा और प्रचार के साथ शासक का काम भी करते थे। इस्लाम धर्म तेजी से चारों ओर फैल रहा था और उसके साथ इस्लामी राज्य का भी विस्तार हो रहा था। मुहम्मद साहब के बाद इस्लाम धर्म और इस्लामी राज्य के सबसे बड़े अधिकारी को खलीफा कहा जाने लगा था। अबूबकर पहले खलीफा हुए, उमर दूसरे और उस्मान तीसरे। उनके बाद इमाम अली चौथे खलीफा बने। उनके दो लड़के हसन और हुसेन थे। इमाम अली के बाद हसन खलीफा की गद्दी पर बैठे। लेकिन एक दूसरे व्यक्ति ने हसन से गद्दी हड़प ली और वह खलीफा बन बैठा। उसका नाम मुआविया था। अभी तक खलीफाओं की राजधानी मदीना थी जहां से मुहम्मद साहब ने पहले पहल अपने धर्म का

संदेश दिया था। अभी तक के खलीफा भी एक तरह से उन्हीं के वंशज थे। नया खलीफा मुआविया दूसरे वंश का था। उसने अपनी राजधानी मदीना से हटाकर दमिश्क कर ली। यह वही दमिश्क था जो आजकल सीरिया की राजधानी है।

हसन के छोटे भाई हुसेन मदीना में अरब के लोगों की सेवा और मार्ग-प्रदर्शन में लगे रहे। उनका प्रभाव लोगों में बढ़ने लगा। इस बीच मुआविया की मृत्यु हो गई। नये खलीफा यजीद को हुसेन की बढ़ती हुई लोक-प्रियता से बड़ी चिन्ता होने लगी। यजीद बड़ा अहंकारी था। वह अत्याचारी भी था। वह इस्लामी संसार एक-छत्र शासक तो था ही, वह यह भी चाहता था कि उसे इस्लाम धर्म का सबसे बड़ा अधिकारी माना जाय। उधर अरब की जनता हुसेन को अपना धर्मगुरु मानने लगी थी। यजीद को यह बात बिल्कुल नापसन्द थी। उसने इमाम हुसेन के पास यह संदेश भेजा कि या तो वे उसकी अधीनता स्वीकार करें या युद्ध में प्राण देने को तैयार हों। इस बीच कूफा नगर के निवासियों ने इमाम हुसेन के पास खबर भेजी कि यजीद के अत्याचारों से वे उनकी रक्षा करें। इमाम हुसेन को अपने प्राणों का मोह नहीं था। वे अत्याचार का सामना करते हुए धर्म और सत्य की वेदी पर अपना सब कुछ बलिदान करने को तैयार थे। अपनी जन्मभूमि मदीना छोड़कर वे मक्का आये और फिर वहाँ से कूफा नगर के लिए चल पड़े। उस समय उनके साथ सब मिलाकर ७२ लोंग थे जिनमें ४० घुड़सवार और ३२ पैदल थे। यही उनकी सेना थी। इसमें बूढ़े, जवान, स्त्री, बच्चे सभी शामिल थे। इस सेना में इमाम हुसेन का दूध पीता छह माह का बच्चा अली असगर भी था।

यजीद को जब यह बात मालूम हुई तो उसने कूफा नगर के गवर्नर को बदलकर उसकी जगह पर अपना खास आदमी गवर्नर बना दिया। नये गवर्नर ने कूफा के निवासियों को रिश्वत देकर अपनी ओर कर लिया। इमाम हुसेन को इस विश्वासघात का पता लगा तो उन्होंने अपना रास्ता बदल दिया। वे कर्बला के मैदान की ओर बढ़ने लगे। बीच में यजीद के गर्वनर हुर ने उन्हें गिरफ्तार करना चाहा। यजीद ने बहुत बड़ी सेना के साथ हुर को इस कार्य के लिए भेजा था परन्तु उसकी एक न चली। उल्टे, उसकी सेना के जवान और घोड़े भयंकर प्यास से तड़पने लगे। तब इमाम हुसेन ने पानी देकर उनकी जान बचाई। इमाम हुसेन ने हुर से यह इच्छा प्रकट की कि उन्हें भारत जाने दिया जाय जहाँ वे शान्ति से जीवन के शेष दिन बिता सकें। परन्तु हुर ने उनकी यह बात न मान-इमान हुसेन ने कर्बला के मैदान में पहुँचकर वहाँ अपना डेरा डाल दिया। यह मुहर्रम महीने का तीसरा दिन था। यजीद की सेना ने इमाम हुसेन के खेमों को चारों ओर से घेर लिया। तीन दिन के बाद अर्थात् सात मुहर्रम से खेमों से इमाम हुसेन के लोगों का निकलना बन्द कर दिया गया। फरात नदी थोड़ी दूर पर थी। उसी के पानी से सारा काम चलता था। अब नदी से पानी लाना भी बन्द

हो गया। रेगिस्तानी क्षेत्र था। ऊपर से गर्मी का सूर्य तप रहा था। बिना पानी के स्त्रियाँ, बच्चे सभी प्यास से तड़पने लगे। यजीद चाहता था कि इमाम हुसेन आत्मसमर्पण कर दें। इमाम हुसेन उससे संधि करने को तैयार थे, उसके राज्य की सीमा को छोड़कर कहीं दूसरी जगह जाने को तैयार थे। पर वे किसी तरह की अपमानजनक शर्त मानने को तैयार नहीं थे।

यजीद अपनी जिद पर अड़ा रहा। इमाम हुसेन और उनके साथियों को तीन दिन बिना पानी बिताना पड़ा। अन्त में दस मुहर्रम को कर्बला का युद्ध हुआ। यजीद की सेना में हजारों सैनिक थे। इमाम हुसेन के सहयोगियों की संख्या इनी-गुनी ७२ थी जिसमें कई स्त्रियाँ और अबोध बच्चे थे। पर उनमें से किसी ने पीठ नहीं दिखाई, किसी ने यजीद से दया की भीख नहीं माँगी। अद्भुत वीरता के साथ लड़ते हुए एक-एक करके इमाम हुसेन के सभी जवान शहीद हो गए। छह मास के बच्चे अली असगर को भी जिसे तीन दिन से माँ का दूध नहीं मिला था, निर्मम शत्रु ने बाणी से बेधकर मार डाला। अन्त में इमाम हुसेन शहीद हुए। कुछ स्त्रियाँ और बूढ़े यजीद के हाथों दुर्दशा भोगने को शेष रह गये।

कर्बला के मैदान के इसी बलिदान के उपलक्ष्य में हर साल मुहर्रम मनाया जाता है। मुहर्रम महीना आरम्भ होने के एक दिन पहले ही हर आराम की चीज त्याग दी जाती है। इमामबाड़ा में, जहाँ मुहर्रम मनाया जाता है, पूरी तैयारी कर ली जाती है। हर शिया मुसलमान के घर में इन दिनों एक कमरा अलग करके उसे इमामबाड़ा का रूप दे दिया जाता है। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक इमामबाड़े भी होते हैं जहाँ मुहर्रम मनाने के लिए लोग बड़ी संख्या में इकट्ठे होते हैं। इमामबाड़े की दीवालों पर इमाम हुसेन के पंजे और पटके लगा दिए जाते हैं। ये उनके अलम के चिन्ह हैं। लकड़ी, कागज की बनी इमाम हुसेन की कब्र की अनुकृति या नकल भी इमामबाड़ा में रख दी जाती है। इसे ताजिया कहते है। शाम को मुहर्रम की मजलिस होती है। उस समय इमामबाड़ा अगरबत्ती की सुगन्ध से गमका दिया जाता है।

मजलिस के समय एक व्यक्ति, जिसे जाकिर कहते हैं, इमाम हुसेन के विचारों और आदर्शों का बयान करता है। वह यह भी बताता है कि किन कारणों से कर्बला का युद्ध हुआ। एक ओर न्याय, सहनशीलता और सत्य थे; दूसरी ओर अन्याय, अत्याचार और असत्य। जाकिर कर्बला के युद्ध और इमाम हुसेन तथा उनके साथियों की तकलीफों का वर्णन इस प्रकार करता है कि सुनने वाले प्रभावित हुए बिना रह नहीं सकते। बहुतों की आँखों में आँसू आ जाते हैं।

जाकिर के व्याख्यान के बाद एक व्यक्ति खड़ा होकर एक दुखभरा गीत गाता है जिसे मर्सिया या नौहा कहते हैं। इसमें कर्बला की दुखद घटना का जिक्र होता है। इस समय इमामबाड़े में उपस्थित सभी व्यक्ति अपने सीने पर दायाँ हाथ मारते हैं। इसे मातम करना कहते हैं। अन्त में जाकिर काबा की तरफ अँगुली

उठाकर अरबी भाषा में कुछ पढ़ता है जिसे जियारत करना कहते हैं।

मातम मनाने का यह क्रम मुहर्रम महीना आरम्भ होने के एक दिन पूर्व आरम्भ होकर मुहर्रम माह की ९ तारीख तक चलता है। १० तारीख को, जिस दिन कर्बला का दुःखान्तक युद्ध हुआ था, मातम मनाने वाले सुबह से न तो कुछ खाते हैं और न पानी पीते हैं, छह-साढ़े छह बजे शाम को अन्तिम मजलिस होती है जिसे शामे-गरीबां कहते हैं। शामे-गरीबां हमेशा खुले मैदान में होती है। शामे-गरीबां में विशेषकर इमाम हुसेन के परिवार के उन असहाय सदस्यों की दुर्दशा का वर्णन किया जाता है जो कर्बला युद्ध के बाद बच रहे थे और जिन्हें कैद में डालकर यजीद ने अनेक तरह से अपमानित किया था। इन असहायों में स्त्रियाँ और इमाम हुसेन के एक बीमार चचेरे भाई भी थे।

मजलिस के साथ हमारे देश में मुहर्रम मनाने की एक और प्रथा भी है। मातम मनाने वाले हर शाम को ताजियों का जुलूस निकालते हैं। ये छोटे-बड़े ताजिये बड़े परिश्रम से बनाये जाते हैं। इनमें शीशम की सख्त लकड़ी से लेकर जौ, गेहूँ, अभ्रक, मोम, पतंग के रंग-बिरंगे कागज आदि अनेक वस्तुओं का इस्तेमाल होता है। ताजियों को इतना कलापूर्ण बनाने और उनका जुलूस निकालने की परम्परा हमारे देश की विशेषता है; ईरान या अरब में ऐसी प्रथा नहीं है। कहा जाता है कि मुसलमानों में यह प्रथा हिन्दुओं की रामलीला की देखा-देखी आई।

ताजियों का जुलूस उन वीरों की यादगार में निकाला जाता है जो कर्बला के मैदान में शहीद हुए थे। हर वीर की यादगार के लिए अलग दिन निश्चित है। पर इससे यह नहीं मानना चाहिए कि वे अलग-अलग दिन शहीद हुए थे। कर्बला का युद्ध तो केवल एक दिन मुहर्रम की १० तारीख को हुआ था। वह उन वीरों को श्रद्धांजलि अर्पित करने का एक तरीका है कि हर एक के लिए अलग दिन ताजिए निकाले जाते हैं।

ताजियों के जुलूस में शामिल लोग एक ओर तो मर्सिये गाते चलते हैं; दूसरी ओर कुर्बानी का उत्साह दिखाई देता है। कुछ नौजवान छुरों और जंजीर से मातम करके अपने खून में नहा उठते हैं। छाती पीट-पीटकर कुछ लोग अपने को भुला देते हैं। कुछ तो बेहोश भी हो जाते हैं। लोग ताजियों पर चढ़ावे चढ़ाते हैं। इमाम हुसेन के घोड़े—दुलदुल, को मलीदे खिलाते हैं। उनके नाम पर शर्बत पिलाते हैं। बीमार बच्चों को ताजियों और दुलदुल के नीचे से निकालकर उनके स्वास्थ्य की दुआ मांगते हैं। कुछ नौजवान इमाम हुसेन के नाम पर 'या हुसेन' का नारा लगाकर गतके, बनेठी, बाँक और तलवार के हाथ दिखाते हैं। हर ओर फूल मालाओं की वर्षा-सी होती दिखाई देती है।

जुलूस के बाद ताजियों को जल प्रवाहित कर दिया जाता है। कीमती ताजियों को आगे वर्षों के लिए रख भी लिया जाता है।

मुहर्रम के बाद आने वाले महीने की २० तारीख को कर्बला के शहीदों की याद में चालीसवां दिन या चहलुम मनाया जाता है।

क्रिसमस अथवा बड़ा दिन

बड़ा दिन हर साल २५ दिसम्बर को मनाया जाता है। यह ईसाइयों का सबसे बड़ा त्यौहार है। यह त्यौहार ईसाई ने धर्म को चलाने वाले महात्मा ईसा-मसीह के जन्म दिवस के उपलक्ष्य में मनाया जाता है।

ईसाइयों के धर्म ग्रन्थ का नाम बाइबिल है। इसके दो भाग हैं। पुराने भाग को ओल्ड टेस्टामेंट कहते हैं और नये भाग को 'न्यू टेस्टामेंट'। इसी न्यू टेस्टामेंट से हमें ईसामसीह और उनके द्वारा संस्थापित धर्म की जानकारी मिलती है। मत्ती, मार्कुस, लूकस और योहन नामक ईसामसीह के चार शिष्यों ने उनके जीवन की घटनाओं और उनके उपदेशों का वर्णन अपने-अपने ढंग से किया है। इन्हें गास्पेल या सुसमाचार कहते हैं। इन्हीं सुसमाचारों का संग्रह बाइबिल है।

ईसामसीह को कोई लम्बी जिन्दगी नहीं मिली थी। वे करीब तीन वर्ष ही जीवित रहे। उनके जीवन के अन्तिम चार वर्ष बड़े ही महत्वपूर्ण रहे। इन वर्षों में उन्होंने अनेक आध्यात्मिक चमत्कार दिखाये। न जाने कितने मृत व्यक्तियों को उन्होंने जीवित कर दिया, कितने अंधों को आँखे दीं, रोगियों को नीरोग किया और कोढ़ियों का कोढ़ दूर किया। यह सब उन्होंने अपनी आध्यात्मिक शक्ति के बल पर किया। इसका परिणाम एक ओर तो यह हुआ कि हजारों लोग उनके अनुयायी बन गये और दूसरी ओर इनसे भी अधिक लोग उनके शत्रु हो गये।

ईसामसीह के शत्रु उनके जन्म-काल से थे और अंत में ईसा को सूली पर चढ़ाकर ही उन्हें शान्ति मिली। इस्राइल के बैतलहम नामक गांव में जब उनका जन्म हुआ तो उस समय कुछ ऐसी अलौकिक घटनाएं हुईं कि लोगों को आभास हो गया कि किसी अद्भुत पुरुष का पृथ्वी पर आगमन हुआ है। लोग उनके दर्शनों को दौड़ पड़े थे। उस समय के राजा हेरोदस को जब इसका समाचार मिला तो उसका विचार उन्हें मरवा डालने का हुआ। ईसा के पिता को स्वप्न में यह बात

मालूम हो गई और वे नवजात बालक को लेकर मिस्र भाग गये। हेरोदस के मरने के बाद ही वे स्वदेश लौटे। फिर अपने गाँव नासरत में वे रहने लगे। ईसा के पिता पेशे से बढ़ई थे। ईसा भी अपने पिता के धंधे में लग गये। पर उनका मन तो कहीं और था। वे यहूदी जाति का उद्धार करने के लिए इस पृथ्वी पर आये थे। उस समय का यहूदी समाज अनेक कुरीतियों और बुराइयों में डूबा था। आपस में ही रात-दिन खून-खराबा होता रहता था। धर्म के नाम पर चारों ओर दंभ और विडम्बना का राज था। ईसा ने इन सब कुरीतियों के विरुद्ध बोलना आरम्भ किया। उन्हें आत्मज्ञान हो गया था और सच्चे धर्म का रास्ता उन्हें दिख गया था। पर जो लोग जनता के अज्ञान का लाभ उठाकर समाज के नेता बने थे उन्हें ईसामसीह का उपदेश देना अच्छा नहीं लगा। ईसामसीह ने इसकी चिन्ता नहीं की। वे लोगों को सेवा, सद्भाव, सहयोग और सहायता का उपदेश देते हुए घूमने लगे। उन्होंने यह भी घोषणा कर दी कि मैं ईश्वर का पुत्र हूँ और ये अच्छी बातें बताने के लिए ही ईश्वर ने स्वर्ग से मुझे पृथ्वी पर भेजा है। मैं यहूदियों का राजा हूँ। अज्ञान से उनका उद्धार करना मेरा काम है।



ईसामसीह के इस प्रकार के प्रचार का फल यह हुआ कि उनके विरोधियों ने उन पर राज्य पलट देने का अभियोग लगाना शुरू कर दिया। यह खबर उस

समय के हाकिम पीलातूस तक पहुँचाई गई। एक दिन षड्यन्त्रकारियों ने ईसामसीह के विरोधियों ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया और हाकिम के सामने ले जाकर उन्हें खड़ा कर दिया। पीलातूस जानता था कि ईसामसीह निर्दोष है। पर उस पर ईसा के विरोधियों का इतना दबाव था कि उसे विवश होकर ईसा को फाँसी की सजा सुनानी पड़ी।

ईसामसीह को आत्मज्ञान के बल पर सब कुछ पहले से मालूम था। उनके मन में किसी के प्रति कोई रोष या दुर्भाव नहीं था। जब सूली पर चढ़ाने के लिए लोग उन्हें ले जाने लगे तो उन्होंने कहा, "मेरे पिता, इन्हें क्षमा करना, ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं।"

ईसामसीह को यरुशलम नगर में कल्वरी नामक पहाड़ी पर सूली पर चढ़ाकर फाँसी दी गई थी। इसी से यरुशलम ईसाइयों का सबसे पवित्र तीर्थस्थल बन गया है।

ईसामसीह की मृत्यु के बाद उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ने लगी। आज संसार के हर देश में उनके धर्म को मानने वाले मिलते हैं। सभी देशों में ईसामसीह का जन्म दिवस २५ दिसम्बर को बड़े उत्साह से मनाया जाता है। लगभग एक महीना पहले से ईसाई समाज के सभी वर्गों के लोग इसकी तैयारियाँ करने लगते हैं। नये कपड़े सिलते हैं, क्रिसमस कार्ड खरीदे जाते हैं और बच्चों, सम्बन्धियों और मित्रों को भेंट करने के लिए तरह-तरह की वस्तुओं का चुनाव होने लगता है।

२४ दिसम्बर की संध्या-वेला आती है तो सभी ईसाई अपने-अपने घरों और गिरजाघरों को दीपकों से सजाते हैं। जहाँ बिजली नहीं है वहाँ के ईसाइयों के घर और गिरजाघर भी तेल के दीपकों और मोमबत्तियों से जगमगा उठते हैं। फिर क्रिसमस की पूर्व सांध्य-वेला का कार्यक्रम प्रस्तुत किया जाता है। हर घर में (और गिरजाघर में भी) एक क्रिसमस-ट्री अर्थात् वृक्ष जैसी चीज रखी जाती है। इस वृक्ष को सुन्दर-सुन्दर मोमबत्तियों और कार्डों से सजाया जाता है। उसकी शाखाओं से अनेक प्रकार के पारितोषिक टाँगे जाते हैं। हर पारितोषिक पर देने वाले और पाने वाले दोनों के नाम लिखे होते हैं। पाने वालों में सगे-सम्बन्धी से लेकर गरीब से गरीब व्यक्ति भी होते हैं। फिर 'क्रिसमस फादर' का अचानक आगमन होता है। उनकी वेशभूषा लम्बी, रंग-बिरंगी होती है। लम्बी सफेद दाढ़ी रखाये, सिर पर टोपी लगाए, हाथ में छड़ी लिए वे ऊँची आवाज में कुछ बोलते हुए प्रवेश करते हैं। एकत्र समाज में से पारितोषिक लेने के लिए वे एक-एक को बुलाते हैं। पारितोषिक देने वाले का नाम भी वे पढ़ते जाते हैं। हर पारितोषिक पाने वाले को कोई-न-कोई गीत या कविता सुनानी पड़ती है। जब पारितोषिक वितरण का कार्यक्रम समाप्त हो जाता है तब सामूहिक संगीत और भजन होता है।

माना जाता है कि ईसामसीह का जन्म २४ दिसम्बर की रात में १२ बजे हुआ था। इस शुभ घड़ी की यादगार में १२ बजे रात को ईसाई बालकों और युवकों की टोलियाँ 'क्रिसमस करोल' अर्थात् ईसामसीह के जन्म के उपलक्ष्य में खुशी के गीत गाती हुई निकलती हैं। ये टोलियाँ गाजे-बाजे के सामानों और मशालों से सुसज्जित होती है। मंद स्वर में ईसा का जन्मगीत गाती हुई ये पास-पड़ोस से लेकर दूर तक के घरों का फेरा लगाती हैं। इस तरह की एक नहीं कई टोलियाँ भी हो सकती हैं। जिस भी घर के सामने जाकर वे रुकती हैं उस परिवार के सदस्य प्रसन्नता के साथ उनका स्वागत करते हैं, क्योंकि वे ईसामसीह के जन्म की खुशखबरी लेकर जाती हैं। फिर भिन्न-भिन्न टोलियों के लोग आपस में भी मिलते हैं और एक-दूसरे को बधाई और शुभ कामना देते हैं।

२५ दिसम्बर को ईसामसीह का जन्म दिवस मनाया जाता है। प्रातःकाल गिरजाघरों में ईश-प्रार्थना होती है और उसके पुत्र ईसामसीह का गुणगान किया जाता है। ईसाई-पुरोहित ईसामसीह के उपदेशों की व्याख्या करते हैं। आराधना का कार्यक्रम समाप्त होते ही गरीबों को देने के लिए अन्न, वस्त्र और धन का दान एकत्र किया जाता है। फिर लोग एक-दूसरे को बधाई देते हुए गले मिलते हैं। इस दिन हर ईसाई घर में विशेष प्रकार के स्वादिष्ट भोजन का आयोजन होता है। लोग अपने सम्बन्धियों और मित्रों को भोजन के लिए आमंत्रित करते हैं। दिन मिलने-मिलाने पौर खान-पान में बीत जाता है।

रात्रि के समय ईसाई युवकों और युवतियों द्वारा गिरजाघरों में ईसामसीह की जयन्ती के उपलक्ष्य में नाटक, कविता पाठ आदि का कर्यक्रम प्रस्तुत किया जाता है। इनका विषय मुख्य रूप से ईसामसीह के जीवन की घटनाएँ होती हैं। यह कार्यक्रम कभी-कभी रात-भर चलता रहता है। २५ दिसम्बर के बाद भी उत्सवों और मनोरंजन के कार्यक्रमों का सिलसिला चलता रहता है। इसकी समाप्ति १ जनवरी को नये साल का उत्सव मनाकर होती है।

गुडफ्राइडे और ईस्टर

ये दोनों ईसाई त्योहार पास-पास पड़ते हैं। बीच में केवल शनिवार का अंतर है। हर साल ये २२ मार्च और २५ अप्रैल के बीच किसी समय आते हैं। २२ मार्च के बाद पड़ने वाली पूर्णिमा के पश्चात् जो शुक्रवार आता है वह गुड-फ्राइडे होता है और उसके एक दिन के अन्तर से आने वाला इतवार ईस्टर होता है। गुडफ्राइडे को हिन्दी में धन्य शुक्रवार कहते हैं। इसी दिन महात्मा ईसामसीह को क्रूस पर चढ़ाया गया था। एक प्रकार से ईसाइयों के लिए यह शोक का दिन है ठीक वैसे ही जैसे मुहर्रम मुसलमानों के लिए। ईसाई इस दिन को धन्य इसलिए मानते हैं कि महात्मा ईसा ने उनको सद्मार्ग दिखाने के लिए इस दिन अपने प्राणों की आहुति दी थी।

ईस्टर का त्योहार महात्मा ईसा के कब्र में से जीवित हो उठने की यादगार में मनाया जाता है। ईसाई धर्म के विद्वानों का मत है कि ईसामसीह को सन् ३० ई० में ८ अप्रैल को तीसरे पहर सूली पर चढ़ाया गया था और वहीं पास में बनी कब्र में उनके शव को दफना दिया गया था। उस कब्र में से वे तीसरे दिन जीवित होकर बाहर निकल आये थे। उसके बाद चालीस दिन तक उपदेश देते हुए वे विच-रण करते रहे। फिर अपनी इच्छा से उन्होंने स्वर्गारोहण किया।

गुडफ्राइडे को ईसाई लोग गिरजाघरों में जाकर ईश्वर की आराधना करते हैं। वे ईसामसीह का गुण-गान करते हैं कि उन्होंने धर्म का सच्चा रास्ता दिखाया और पापों से लोगों का उद्धार करने के लिए अपने प्राणों की बलि चढ़ा दी। गरीबों को दान देना और अपाहिज व बीमारों की सेवा करना भी इस दिन का जरूरी कर्त्तव्य समझा जाता है।

गुडफ्राइडे के दिन सबसे रोमांचकारी दृश्य यरूशलम में देखने को मिलता है, जहाँ ईसामसीह को क्रूस पर चढ़ाकर फाँसी दी गई थी। पीलातूस के न्यायालय में ईसामसीह को फाँसी की सजा सुनाई गई थी। उनके शत्रुओं ने इस पर कृ

हर्षध्वनि की थी। ईसामसीह का उपहास किया गया था। उन पर यह कहकर व्यंग किया गया था कि यह देखो, यह है यहूदियों का राजा जो अब फाँसी के तख्ते पर झूलने जा रहा है। फिर उन्हें कल्वरी नामक पहाड़ी पर ले जाया गया था। वह क्रूस उन्हें अपने कंधों पर ढोकर ले जाना पड़ा था जिस पर टाँगकर उन्हें फाँसी देनी थी। उनके शत्रु रास्ते-भर उन्हें गालियाँ सुनाते गये थे, उन पर थूकते गये थे और डंडों से उन पर प्रहार करते गये थे। ईसामसीह ने उत्तर में केवल यही कहा था कि मेरे पिता, इन्हें क्षमा करना। ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं।

गुडफ्राइडे के अवसर पर यरुशलम में हर वर्ष हजारों ईसा-भक्त दुनिया के भिन्न-भिन्न देशों से इकट्ठा होते हैं और अपने कंधों पर क्रूस लेकर नीचे से कल्वरी पहाड़ी के ऊपर तक उसी मार्ग पर चलते हैं जिससे महात्मा ईसा ने अपने जीवन की अंतिम यात्रा की थी। ईसा की यातनाओं का स्मरण करके कितने ही धर्म-भक्त ईसाई रोने लगते हैं। पीड़ा से कराहते हुए ईसा की जो मूर्तियाँ कहीं-कहीं गिरजाघरों के अहातों में दिखाई पड़ती हैं वे वास्तव में सूली के समय के दृश्य को ही प्रतिमूर्तित करती हैं कि किस तरह अन्याय के हाथों एक महात्मा को प्राण तजने पड़े थे।

ईसाई लोग कहते हैं कि वह दिन धन्य है जिस दिन ईसामसीह ने अपने अनुयायियों के कल्याण के लिए अपने प्राणों की भेंट चढ़ाई।

ईसामसीह ने अपनी मृत्यु के पहले ही कहा था कि मैं तीन दिन के बाद जी उठूँगा। उनके शत्रुओं को इस कथन का पता था। ईसा के अन्य कथनों की भाँति उन्होंने इसे भी ईसा की एक चाल समझा था। पीलातूस को इसकी सूचना देते हुए उन्होगे अपना यह डर प्रकट किया था कि ईसा के शिष्य उनकी लाश को कब्र में से चोरी से निकाल ले जाएँ और फिर यह प्रचार कर दें कि ईसा कब्र में से जीवित हो उठे हैं। ईसा की कब्र पर पहरेदार बैठा दिये गये थे। पर जब उनके पुनरुत्थान का समय आया तो एक देवदूत स्वर्ग से नीचे उतरा। वह कब्र पर रखे पत्थर को बगल में लुढ़काकर उस पर बैठ गया। फिर जोर का भूकम्प हुआ जिससे पहरेदार अचेत हो गये। इस बीच ईसामसीह जीवित होकर कब्र से बाहर जा चुके थे। उसके बाद चालीस दिन तक वे इस पृथ्वी पर रहकर विचरण करते रहे। उनके सभी शिष्यों को भी ईसामसीह के इस चमत्कार का पूरा पता नहीं लग पाया।

ईस्टर के दिन भी ईसाई लोग वही धार्मिक कृत्य करते हैं जो गुडफ्राइडे को किये जाते हैं। वास्तव में ये दोनों त्योहार एक सिलसिले में आते हैं और एक सिलसिले में ही मनाये भी जाते हैं।

पारसी धर्म और त्यौहार

हमारे देश में रहने वाली पारसी जाति के पूर्वज यहाँ कई सौ वर्ष पहले पारस देश से आये थे। इसीसे इनका नाम पारसी पड़ गया। पारस देश का दूसरा नाम ईरान भी है। आजकल वह प्रायः इसी नाम से पुकारा जाता है।

वर्तमान समय में ईरान के अधिकांश निवासी इस्लाम धर्म को मानने वाले हैं। इस्लाम के प्रचार के पहले वहाँ जिस धर्म का चलन था, भारत के पारसी उसी धर्म को आज भी मानते हैं। जब पारस देश में इस्लाम धर्म प्रचार का किया जाने लगा तो जिन पारसियों ने उसे नहीं कबूल करना चाहा वे अपना देश छोड़कर भारत चले आये। इस समय हमारे देश में पारसियों की संख्या एक लाख से अधिक नहीं होगी। फिर भी हमारे राष्ट्रीय जीवन में इस जाति का महत्त्व है। देश की स्वतन्त्रता की लड़ाई में इसका बड़ा हाथ रहा है। दादा भाई नौरोजी, जिनका नाम स्वतन्त्रता के सेनानियों में सबसे पहले लिया जाता है, पारसी थे। जमशेद जी टाटा, जिन्होंने इस्पात के उद्योग में देश को आगे बढ़ाया, पारसी थे। भाभा, जिन्होंने आणविक विज्ञान के क्षेत्र में अपनी प्रतिभा से देश का नाम ऊँचा किया, पारसी थे। इसी तरह न जाने कितने अन्य पारसियों के नाम गिनाये जा सकते हैं, जिन पर हमारे देश को गर्व है।

अपनी जन्मभूमि छोड़ देने को विवश होने पर पारसी जाति जब इस देश में आई तो अपना धर्म और अपनी अनेक परम्पराएँ अपने साथ लाई। पारसी लोग अपनी जाति का इतिहास नहीं भूले हैं। उनके बहुत से संस्कार और रीति-रिवाज उनके प्राचीन इतिहास से जुड़े हैं। यहाँ रहते-रहते उनके रहन-सहन की बहुत-सी बातें हिन्दुओं से भी मिलने लगी हैं। सच तो यह है कि हिन्दू और पारसी दोनों आर्य जाति के लोग हैं। आर्य जाति कभी उत्तरी ध्रुव-प्रदेश में निवास करती थी। वहाँ से चलकर वह संसार के विभिन्न भागों में फैली। इसमें हजारों वर्ष

का समय लगा होगा। फैलने के क्रम में आर्यों की एक शाखा ईरान में पहुँची। फिर कुछ लोग तो वहीं रह गये और कुछ और आगे बढ़े तो भारत के निवासी बन गये। ईरान और भारत के आर्य एक ही शाखा के थे इसका सबसे बड़ा प्रमाण उनके प्राचीन धर्मग्रन्थों की भाषा से मिलता है। पारसियों-ग्रन्थ के प्राचीन धर्म-ग्रन्थ का नाम जेन्द अवेस्ता है और हिन्दुओं का सबसे प्राचीन ऋग्वेद है। जेन्द अवेस्ता और ऋग्वेद की भाषा में अद्भुत समानता मिलती है।

पारसी लोग जिस धर्म को मानते हैं उसकी स्थापना जरथुस्त्र नाम के महापुरुष ने की थी। उनका जन्म ईसामसीह के लगभग ७ सौ वर्ष पहले हुआ था। वह पारसी वर्ष के पहले महीने फर्वदीन में छठी की तिथि कीं यह दिन पारसियों के लिए एक पर्व बन गया है। हर साल इस तिथि को पारसी जाति अपने धर्म-संस्थापक का जन्मोत्सव बड़े उत्साह से मनाती हैं इसपर्व का नाम 'खोर्दादसाल' है।

जरथुस्त्र के पिता का नाम पौरुषपा और माता का दोगदो था। ह्वावी नाम की स्त्री से उनका विवाह हुआ था जिससे तीन कन्याएँ और तीन पुत्र उत्पन्न हुए। कुछ लोग ऐसा भी मानते हैं कि जरथुस्त्र का विवाह नहीं हुआ था। ७७ वर्ष की अवस्था में एक तुर्रानी के हाथों उनकी हत्या गई। उस समय पारसी वर्ष का 'दय' नाम का दसवाँ महीना चल रहा था। यह उसका ११वाँ दिन खोर्शीद था। पारसी जाति इस तिथि को भी उनकी श्राद्ध तिथि के रूप में हर साल मनाती है।

जरथुस्त्र बचपन से ही बड़े बुद्धिमान थे। धार्मिक मामलों में उनकी बड़ी रुचि थी। उस समय बहुत-सी कुरीतियाँ और धार्मिक आडम्बर फैले थे। जरथुस्त्र इनसे दुखी थे। वे सच्चे धर्म का मार्ग ढूँढ़ना चाहते थे। रात-दिन वे धर्म-चिन्तन में ही लगे रहते थे। अन्त में उन्हें ईश्वर की अनुभूति हुई जिसे उन्होंने अहुर मज्द कहा। मज्द का अर्थ है ज्ञान। जरथुस्त्र ने इसी ज्ञानस्वरूप ईश्वर की उपासना का प्रचार आरम्भ किया। उन्होंने उपदेश दिया कि मज्द ही सृष्टि का निर्माता और पालनकर्त्ता है। अहिमन या अज्ञान मज्द का शत्रु है जो बराबर उसे नीचा दिखाना चाहता है, पर अन्त में विजय मज्द की ही होती है।

ऊपर 'अहुर मज्द' में जो अहुर शब्द आया है उसका भाव भी समझ लेना चाहिए। 'अहुर' असुर का ही दूसरा रूप है। भारत में आकर बसने वाले आर्यों में इसका प्रयोग दानव या राक्षस के लिए होता आया है। वे अन्यायी, अत्याचारी, हिंसक और तामसिक गुणों वाले माने जाते हैं। इसके विपरीत 'सुर' शब्द देवताओं के लिए प्रयुक्त होता है। सुर सभी अच्छे गुणों की खान माने जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ईरान में बसने के समय ही आर्यों में दो वर्ग हो गये थे। एक वर्ग असुरों या अहुरों में सभी अच्छे गुण देखता था और दूसरा वर्ग इन गुणों का केन्द्र सुरों को मानता था। हो सकता है कि इसी आपसी संघर्ष के कारण सुरों के उपासक आर्यों को ईरान देश छोड़कर भारत की ओर प्रस्थान कर देना पड़ा हो। जो

भी हो, मुख्य बात तो सद्गुणों की उपासना की है। जरथुस्त्र ने ज्ञान और सद्गुण का उद्गम अहुर में ही माना तो इस नाम-भेद से कोई फर्क नहीं पड़ता।

जरथुस्त्र द्वारा स्थापित धर्म का नाम मज्दायासनी जरथुस्त्री पड़ा—अर्थात् जरथुस्त्र द्वारा उपदिष्ट मज्द की उपासना वाला धर्म। पारसी जाति जहाँ कहीं भी है, इसी धर्म को मानती है।

जरथुस्त्र का उपदेश है कि तुम केवल मज्द की उपासना करो। जरथुस्त्र के अनुयायी कहते हैं—मैं केवल मज्द की उपासना करता हूँ—उस मज्द की जिसका रूप जरथुस्त्र ने प्रकट किया है। मैं स्वीकार करता हूँ कि मैं मज्द का उपासक हूँ; जरथुस्त्र का अनुयायी हूँ; देवों का विरोधी हूँ और अहुर के नियमों के अधीन हूँ।

जरथुस्त्र के धर्म का प्रचार इतना बढ़ा कि पूरा पारस देश उसका अनुयायी हो गया। इस धर्म के मानने वालों में बड़े-बड़े सम्राट हो गये हैं। यूनान और रोम वालों ने संसार में जो बड़े साम्राज्य स्थापित किये थे उनसे भी पहले जरथुस्त्र के अनुयायी पारस के सम्राटों ने विशाल साम्राज्य कायम किये। इन सम्राटों में जमशेद जी नौशेरवाँ, दारा आदि के नाम अति प्रसिद्ध हैं। जमशेद जी नौशेरवाँ के समय में इस धर्म की बड़ी उन्नति हुई। पूरे मध्य एशिया में इसका प्रचार हो गया था। जमशेद जी नौशेरवाँ के न्याय की बहुत-सी कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। उसने पारसी सम्वत् का आरम्भ किया। उसका पहला दिन जमशेदी नवरोज कहलाता है। यह हर साल २१ मार्च को पड़ता है। पारसी लोग नवरोज का पर्व बड़े उत्साह से मनाते हैं। एक जगह इकट्ठे होकर वे प्रार्थना करते हैं, दान-दक्षिणा करते हैं और फिर प्रीति-भोज में सम्मिलित होकर आनन्द मनाते हैं।

७वीं शताब्दी के मध्य तक पारस में मज्दायासनी धर्म पूरे जोर पर था। फिर पारस-वासियों के आपसी कलह के कारण वे कमजोर होने लगे और उनका धर्म भी अपना प्रभाव खोने लगा। ८वीं शताब्दी में जब इस्लाम धर्म वालों ने पारस पर आक्रमण किया तो पारसी शासक उनके सामने नहीं टिक सके। पूरे देश पर इस्लाम का राज हो गया। जिन पारसियों ने इस नए धर्म को नहीं स्वीकार किया वे अपने प्राणों और धर्म की रक्षा के लिए भारत की ओर भाग निकले। भारत में वे संजाण के बन्दरगाह पर उतरे। उस समय वहाँ जदुराणा नाम का राजा राज्य करता था। पारसियों ने राजा से शरण माँगी। राजा ने उन्हें अभय-दान दिया। पारसी संजाण में रहने लगे। वे भारतीय बन गये। यहाँ जैसी उनकी पोशाक हो गई और धीरे-धीरे यहाँ की बहुत-से रीति-रस्मों को भी उन्होंने अपना लिया। एक वस्तु वे अपने साथ पारस से ही लाये थे—वह था अग्नि का कलश। वे इसे ईरान-शाह कहते थे।—अर्थात् ईरान के बादशाह का प्रतिनिधित्व करने वाली अग्नि। बात यह है कि पारसी धर्म में अग्नि को बहुत सम्मान दिया जाता है। कुछ लोग तो यह समझते हैं कि पारसी जाति अग्नि की पूजा करती है पर।

यह धारणा सही नहीं है। पारसी अग्निपूजक नहीं हैं। वे अग्नि का महत्व स्वीकार कर उसे बहुत अधिक सम्मान देते हैं। अग्नि उनके लिए जीवन की पवित्रता की प्रतीक है। इसीलिए उनके मन्दिरों में किसी देवी-देवता की मूर्ति नहीं मिलेगी, वरन् वहाँ सदैव अग्नि ही प्रज्ज्वलित रहती है। संजाण में शरण पाकर बसने वाले पारसी अपने साथ पारस से ईरान-शाह नाम से जो अग्नि लाये थे वह आज भी प्रज्ज्वलित है। ईसवी सन् ७२१ से आगे के ३०० वर्ष से अधिक समय तक वह अग्नि संजाण में जलती रही। जब मुसलमानों ने संजाण पर आक्रमण किया तो ईरान-शाह वहाँ से हटाकर दूसरे सुरक्षित स्थानों में ले जाया गया। बारह-तेरह सौ वर्षों में यह पवित्र अग्नि वंसडा, नवसारी, बलसाड आदि कितने ही स्थानों में घूमती हुई उडवाडा नामक स्थान में पहुँची। अब वहाँ प्रज्ज्वलित है। इसी कारण उडवाडा पारसियों का सबसे पवित्र तीर्थ माना जाता है।

जेन्द अवेस्ता पारसियों का धर्म ग्रन्थ है। इसकी भाषा ऋग्वेद की भाषा से बहुत मिलती-जुलती है। इसमें जरथुस्त्र और उनके शिष्यों द्वारा बताये गए नियम और उपदेश सम्मिलित हैं। जरथुस्त्र के उपदेश-भरे गीतों को गाथा कहते हैं। इनमें जरथुस्त्र ने एक ईश्वर की उपासना की और पवित्र जीवन की सीख दी है। जेन्द अवेस्ता के चार भाग हैं। उनके नाम यश्न, वीस्परद, वेंदिदाद और खोर्दे अवेस्ता हैं। इन्हें ग्रन्थ कहते हैं।

यश्न शब्द यज्ञ का ही दूसरा रूप है। इस ग्रन्थ में जरथुस्त्र की गाथाओं अर्थात् गीतों के अतिरिक्त यज्ञ के समय बोले जाने वाले मंत्रों का संग्रह है। इसमें कुछ मंत्र गद्य में भी हैं। वीस्परद ग्रन्थ में ऋतुओं की उपासना के मंत्र दिए गए हैं। वेंदिदाद में स्वच्छता और पवित्रता के नियमों का संग्रह है, जिनके पालन से मनुष्य बुराइयों, गन्दगियों और हानिप्रद वस्तुओं से अपनी रक्षा कर सकता है। खोर्दे अवेस्ता में सूर्य, चन्द्र, जल, अग्नि, प्रकाश आदि जो हमारे जीवन में इतना महत्त्व रखते हैं, की प्रशंसा के गीत हैं। कुछ पद ऐसे भी हैं जो सामयिक समारोहों में पढ़े जाते हैं।

जेन्द अवेस्ता में पारसी धर्म-नियमों के अतिरिक्त अनेक ऐसी बातों का भी वर्णन है जिनका पालन करने से मनुष्य-जीवन सुखी बन सकता है। इन बातों में आशा, ईमानदारी, विनम्रता, दयालुता, सहानुभूति, कर्त्तव्यपालन, सेवा, प्रेम आदि मानवीय गुणों का समावेश है। यह भी कहा गया है कि लोभ, घमंड, बेई-मानी, निर्दयता, झूठ, विश्वासघात, चोरी आदि अमानवीय गुण हैं और इनसे बचना चाहिए।

जैसे हिन्दुओं में यज्ञोपवीत की प्रथा है उसी प्रकार पारसी धर्म की दीक्षा 'नवजोत' संस्कार से होती है। हर पारसी बच्चे को सात और पन्द्रह वर्ष की अवस्था के बीच किसी समय सद्रा और कुस्ती धारण करना जरूरी होता है। ये दोनों वस्तुएँ पारसी धर्म की प्रतीक हैं। सद्रा सफेद रेशम की कमीज को कहते हैं।

इसकी बनावट विशेष प्रकार की होती है। सद्रा का सफेद होना जरूरी होता है क्योंकि पारसी धर्म में यह रंग स्वच्छता और पवित्रता का प्रतीक माना जाता है। कुस्ती एक प्रकार की करधनी है जो ७२ ऊनी धागों से बनी होती है। यह कमर में इस प्रकार लपेटी जाती है कि दो गाँठें आगे की ओर और दो गाँठें पीछे की ओर होती हैं। यह तीन बार लपेटी जाती है। इसका उद्देश्य यह है कि मज्द यानी धर्म के तीन प्रमुख सद्गुणों को सदैव ध्यान में रखना चाहिए। वे तीन सद्गुण हैं—अच्छे विचार, अच्छे वचन और अच्छे कार्य। कुस्ती की चार गाँठें इस बात का स्मरण कराने के लिए हैं कि कुस्ती धारण करने वाला मज्द का उपासक, जरथुस्त्र का अनुयायी, अहुर के नियमों का पालन करने वाला और देवों का विरोधी है। कुस्ती मेमने के रोमों से बनाई जाती है जिससे उसे धारण करने वाला अपने में मेमने जैसी विनम्रता और निरीहता ला सके।

पारसियों की विवाह-पद्धति हिन्दुओं से मिलती-जुलती है। वरवधू पाजेन्दी भाषा में जो प्रतिज्ञाएँ करते हैं उन्हें संस्कृत भाषा में भी दोहराया जाता है। कहते हैं कि जब पारसियों का पहला दल शरण की खोज में संजाण बन्दरगाह पर उतरा था और उस समय के राजा ने उन्हें शरण दी थी तो उसने कुछ हिन्दू-संस्कारों के पालन की प्रतिज्ञा भी कराई थी। उनमें से एक प्रतिज्ञा यह भी थी। विवाह-संस्कार के बीच वर-वधू पर आशीर्वाद के रूप में लोग बराबर अक्षत छिड़-कते जाते हैं। इस परम्परा में भी हिन्दू विवाह-पद्धति का प्रभाव है।

पारसी-सम्प्रदाय में मुर्दों को न तो जलाया जाता है, न धरती में गड़ा जाता है और न जल में बहाया जाता है। पारसियों का विश्वास है कि इससे हवा, धरती और जल दूषित होते हैं। पारसी मुर्दों को किसी खुली जगह में रख देते हैं, जहाँ थोड़े समय में गिद्ध, कौवे आदि मांस-भक्षी पक्षी उनका सफाया कर देते हैं। पुराने समय में शव की अन्त्येष्टि के लिए पहाड़ की कोई चोटी या एकान्त खुला मैदान चुना जाता था। आजकल जहाँ भी पारसी परिवार रहते हैं वहाँ इसके निमित्त एक निश्चित स्थान बना लेते हैं जिसे दोखमा कहते हैं। जिसका अर्थ है शान्ति-गृह। दोखमा चहारदीवारी से घिरा होता है। उसमें छोटी-बड़ी चिताएँ या चौकियाँ बनी होती हैं जिन पर आकार के अनुसार शव रख दिये जाते हैं। जब मांस-भक्षी पक्षी अपना काम कर लेते हैं तब हड्डियाँ इत्यादि बटोरकर दोखमा के मध्य में बने कुएं में उन्हें डाल दिया जाता है।

पहले कह आये हैं कि पारसी धर्म में अग्नि को बड़ा सम्मान दिया जाता है। यह परम्परा बहुत पुरानी है। पारस के बादशाह जब युद्ध-यात्रा पर निकलते थे तो उनकी सेना के आगे अग्नि-कलश चलता था। अग्नि की उपयोगिता और पवित्रता को दृष्टि में रखकर ही पारसी-धर्म में किसी समय इसके महत्त्व को स्वीकार किया गया होगा। हर पारसी मन्दिर में अग्नि प्रज्वलित मिलती है। इसी से ऐसा विश्वास प्रचलित हो गया है कि पारसी अग्नि-पूजक हैं। वास्तव में

पारसी अग्नि का सम्मान करते हैं, पूजा नहीं। पारसियों के अग्नि-मन्दिर तीन प्रकार के होते हैं—आतश दादगाह, आतश आद्रान और आतश वहराम। इनमें सबसे ऊँचा दर्जा आतश वहराम का माना जाता है। भारतवर्ष-भर में आतश वहराम आठ हैं। इनमें सबसे पुराना उडवाड में है।

पारसियों के अग्नि-मन्दिर में चाँदी या ताँबे के कलश शिला-खण्ड या स्टूल पर रखे होते हैं या छत से लटकते होते हैं। उनमें पवित्र अग्नि सदा जलती रहती है। समय-समय पर इत्र आदि सुगन्धित पदार्थ भी उस पर छिड़के जाते हैं। मन्दिर का पुरोहित दिन में पाँच बार मन्दिर से गर्भगृह में प्रवेश करता है। उसका मुँह ढँका रहता है जिससे उसकी साँस से अग्नि दूषित न हो। वह फर्श धोकर स्वच्छ करता है। कलश में जलती हुई लड़की को भी वह व्यवस्थित करता है और उसमें नई लकड़ी डालता है। वह कहता जाता है—बुरे विचार, बुरे शब्द, बुरे काम दूर हों।

पारसी लोग जब मन्दिर में जाते हैं तो वे भी प्रज्ज्वलित अग्नि में सुगन्धित लकड़ी डालते हैं और वहाँ बैठकर मज्द की आराधना करते हैं। पारसी पर्वों और त्योहारों के दिन मन्दिरों में काफी भीड़ होती है, जब सामूहिक धर्म चर्चा और उपदेश होते हैं।

यहूदी धर्म

यहूदियों की संख्या हमारे देश में इनी-गिनी होगी। फिर भी उनका धर्म संसार के सबसे प्राचीन धर्मों में से एक है। यहूदी जाति का मूल निवासस्थान फिलीस्तीन है जिसका वर्तमान नाम इस्रायल है। पर इस जाति का इतिहास ऐसा रहा है कि वह संसार के भिन्न-भिन्न देशों में बिखर गई थी। अपना कहने को इस जाति का कोई देश नहीं रह गया था। अपनी जन्म-भूमि पर से अधिकार खोकर वह इधर-उधर मारी-मारी भटक रही थी। कई देशों में इस जाति के लोगों को अनेक अत्याचार सहने पड़े और कई में उन्हें घोर अपमान का जीवन बिताना पड़ा।

भाग्य-चक्र घूमा तो फिलीस्तीन फिर यहूदियों के कब्जे में आ गया है और वहाँ उनका अपना राज कायम हो गया है। अब अपने देश का नाम उन्होंने इस्रायल रख दिया है। यह बात इस्रायल के चारों ओर जो अरब देश हैं उनको अच्छी नहीं लगी है। कारण, पहले वहाँ इस्लाम धर्म मानने वालों की संख्या भी काफी थी। यहूदी राज्य की स्थापना के साथ ही वहाँ से मुसलमानों को भागना पड़ा। सन् १९४८ में इस नये राज्य की स्थापना हुई थी। तभी से इस्रायल का वैर-भाव और संघर्ष अरब देशों से चल रहा है। इस संघर्ष का अन्त जैसा भी हो, एक बात निश्चित है। यहूदियों ने शताब्दियों के बाद अपनी खोई हुई मातृभूमि प्राप्त कर ली है और वहाँ से अब कोई उन्हें हटा नहीं सकता।

यहूदी धर्म के संस्थापक हजरत मूसा माने जाते हैं। यहूदी धर्म में उनका वही स्थान है जो ईसाई धर्म में महात्मा ईसा को या इस्लाम में हजरत मुहम्मद को प्राप्त है। सचमुच इन तीनों धर्मों में बहुत-सी बातें समान भी हैं। कुछ ऐसे पैगम्बर हुए हैं जिन्हें तीनों धर्मों के अनुयायी समान रूप से आदर देते हैं। हजरत मूसा से पहले यहूदियों के कई पैगम्बर हुए थे, लेकिन यहूदी जाति को संगठित करने का सबसे बड़ा श्रेय हजरत मूसा को है।

हजरत मूसा का जन्म ईसामसीह से १२, १३ सौ वर्ष पहले हुआ था। उस समय यहूदी जाति अपनी जन्मभूमि फिलीस्तीन खो चुकी थी और वह मिस्र देश में जाकर बसी हुई थी। वहाँ कुछ समय तक उसने सुख का जीवन बिताया था। परन्तु जिस समय हजरत मूसा का जन्म हुआ उस समय उसकी बड़ी दुर्गति थी। मिस्र का राजा जो फराह कहलाता था यहूदियों पर तरह-तरह के अत्याचार कर रहा था। उसने यहाँ तक आदेश दे रखा था कि यहूदी परिवारों में जन्मने वाले सभी लड़कों को तुरन्त मार डाला जाय, केवल लड़कियाँ जीवित रहने पाएँ।

मूसा का जन्म हुआ तो उनकी माँ ने तीन महीने तक उन्हें छिपाकर रखा। फिर एक पिटारी में उन्हें रखकर उस पिटारी को वे नील नदी के तट पर छोड़ आईं। फराह की लड़की नदी में स्नान करने आई तो बच्चे का रोना सुनकर उसकी दृष्टि पिटारी पर गई। उसने बच्चे को निकलवाकर उसका पालन कराया। संयोग की बात कि व्यवस्था ऐसी हुई कि मूसा फिर अपनी माँ की गोद में पहुँच गये और वहीं पलकर बढ़ने लगे। बाद में फराह की लड़की ने उन्हें पुत्र की तरह स्वीकार करके अपने पास रख लिया।

मूसा ज्यों-ज्यों बड़े होते गये अपनी जाति की दुर्दशा देखकर उनका मन दुख से भरता गया। एक दिन उन्होंने देखा कि मिस्र का एक नागरिक एक यहूदी को बुरी तरह से पीट रहा है। यह अत्याचार उनसे सहा न गया। उन्होंने उस मिस्री का काम तमाम करके उसे वहीं बालू में गाड़ दिया। जब फराह के पास यह समाचार पहुँचा तो उसने मूसा को मृत्युदण्ड देना चाहा। लेकिन इस बीच मूसा मिस्र देश से बाहर जा चुके थे। वे मीदियन लोगों के देश में पहुँच गये थे। एक कुएँ के पास बैठकर वे अपनी प्यास और थकान मिटा रहे थे कि उन्होंने देखा कि डाकुओं का एक दल कुछ भेड़ें चराती हुई लड़कियों पर आक्रमण करना चाहता है। मूसा ने लड़कियों की रक्षा की और उनके लिए कुएँ से पानी भी निकाल दिया। जब लड़कियाँ यह समाचार लेकर घर पहुँचीं तो उनके माँ-बाप बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने मूसा को अपने परिवार के एक सदस्य के रूप में रख लिया और उनसे एक लड़की की शादी भी कर दी।

एक दिन मूसा होरेब नाम के पर्वत पर अपने ससुर की भेड़ें चरा रहे थे। वहाँ अग्निज्योति प्रकट हुई। कहते हैं इसी ज्योति के रूप में मूसा को ईश्वर का पहला साक्षात्कार हुआ। विचित्रता यह थी कि झाड़ी से अग्नि की ज्वाला तो फूट रही थी, पर झाड़ी भस्म नहीं हो रही थी। मूसा ने एक आवाज सुनी जो ईश्वर की आवाज थी। ईश्वर को मिस्र में यहूदियों की दशा पर दुख था। मूसा को ईश्वर का आदेश हुआ कि वे मिस्र देश में जाएँ और वहाँ से यहूदियों को निकालकर उन्हें इस्रायल पहुँचाएँ। मूसा के मन में हिचक हुई तो ईश्वर ने उन्हें अनेक प्रकार के चमत्कार करने की शक्ति प्रदान की।

मूसा को अपने पर कुछ भरोसा हुआ और वे लौटकर मिस्र देश में पुनः पहुँचे। अपनी जाति के लोगों को उन्होंने ईश्वर का आदेश कह सुनाया। उनको विश्वास दिलाने के लिए उन्होंने कुछ चमत्कार भी दिखाए। इसके बाद उन्होंने मिस्र के राजा फराह से भेंट की और कहा कि इस्रायली लोगों को तुम अपने देश से बाहर जाने दो। पर फराह इसके लिए तैयार नहीं हुआ। उल्टे उसने उन पर और भी अधिक अत्याचार कराने आरम्भ कर दिये। तब मूसा ने फराह को डराने के लिए एक के बाद एक दवी चमत्कार दिखाना शुरू किया। उन्होंने अपनी छड़ी उसके सामने फेंक दी जो तुरन्त साँप बन गई। फराह पर इस चमत्कार का कोई असर नहीं हुआ। मूसा ने दूसरी बार उस छड़ी को उठाकर नील नदी में फेंक दिया। नील की सारी मछलियाँ मर गई जिस कारण पानी पीने लायक नहीं रह गया। पानी की त्राहि-त्राहि मच गई। परन्तु फराह इससे भी विचलित नहीं हुआ। इसी तरह मूसा चमत्कार पर चमत्कार करते गये, उन्होंने दिन को रात में और रात को दिन में बदल दिया। परन्तु फराह था कि उसके मन पर इन चमत्कारों का कोई असर न हुआ। तब मूसा ने आवेश में आकर शाप दिया कि रात-भर में सभी मिस्रवासियों की प्रथम सन्तानें मर जाएँगी; यहाँ की पशुओं की भी सभी प्रथम सन्तानें नष्ट हो जाएँगी। मूसा का यह शाप सही उतरा। फराह की भी प्रथम सन्तान उसी रात को काल के गाल में समा गई। यह देख फराह का साहस जाता रहा। उसने तुरन्त आदेश दिया कि अपने सभी सजातियों को लेकर मूसा मिस्र देश से निकल जाएँ।

मूसा तो यही चाहते थे। सभी यहूदियों को लेकर वे चल पड़े। लेकिन थोड़े समय के बाद फराह की मति फिर बदल गई। उसने इस्रायलियों को पकड़ लाने के लिए अपनी सेना भेजी। तब तक अपने अनुयायियों के साथ मूसा लाल सागर के किनारे पर पहुँच चुके थे। इस्रायलियों ने सेना को अपना पीछा करते देखा तो वे डर से सिहर उठे। बचाव का कोई उपाय नहीं था। आगे अथाह लाल सागर था, पीछे फराह की अपार सेना थी। मूसा ने कहा—तुम लोग लाल सागर में आगे बढ़ो। जल तुम्हारा मार्ग नहीं रोकेगा, हाँ, वह मिस्र की सेना की समाधि बन जायगी। यह कहकर मूसा ने अपनी छड़ी को सागर के ऊपर हिलाया। सागर सूख गया, उसके बीच में मार्ग बन गया। इस्रायली सागर पार हो गये। तब तक मिस्र की सेना भी बीच सागर में पहुँच चुकी थी। मूसा ने अपनी छड़ी को एक बार फिर घुमाया और सागर के बीच का सूखा मार्ग अथाह जल से भर गया। सारी मिस्री सेना नष्ट हो गई।

मूसा इस्रायलियों को साथ लिये आगे बढ़े। मार्ग में उन्हें अनेक कष्ट झेलने पड़े। पीने के लिए पानी तक नहीं मिलता था। अपने दैवी चमत्कार से मूसा सभी कठिनाइयों पर विजय पाते गये। अन्त में वे सिनाई पर्वत पर पहुँचे। यहाँ ईश्वर ने मूसा को दस आदेश दिये जो यहूदी धर्म में 'टेन कमांडमेंट्स' के नाम

से प्रसिद्ध हैं। यही आदेश ईश्वरीय आदेश यहूदी धर्म की आधारशिला हैं। इन्हीं पर यहूदियों का सामाजिक और नैतिक जीवन भी आधारित है।

ईश्वरीय आदेश प्राप्त करने के वाद मूसा आगे बढ़े। साल पर साल बीतते गये। कठिनाइयों पर कठिनाइयाँ आतीं। जो लोग मिस्र से चले थे उनकी संख्या कम होती गई, नई सन्तानें पैदा होती गई। मिस्र से इस्रायल तक की यात्रा पूरी होने में ४० वर्ष लगे। मूसा इस्रायलियों को उनकी आदि भूमि के निकट तक ले गये, पर स्वयं उनके भाग्य में उसमें प्रवेश करना नहीं लिखा था। कहा जाता है कि जो यहूदी मिस्र से चले थे उनमें से कोई भी इस्रायल में प्रवेश करने के लिए जीवित नहीं रहा। यह सौभाग्य मार्ग में पैदा हुई सन्तानों को मिला। मूसा की मृत्यु के वाद जोशु उनके नेता वन गये थे। उन्हीं के साथ यहूदियों ने चार-पाँच सौ वर्ष के वाद फिर अपनी मातृ-भूमि की धरती का स्पर्श किया।

सिनाई पर्वत पर मूसा को ईश्वर ने जो आदेश दिये थे उन्हीं का अनुसरण करती हुई यहूदी जाति अव भी अपने धर्म का पालन करती है। ईश्वर ने मूसा से कहा था कि मैं तुम लोगों का स्वामी हूँ। मैंने तुम्हें मिस्र देश की गुलामी से मुक्त किया है। तुम केवल मेरी उपासना करना, किसी अन्य देवता की नहीं। तुम मूर्तिपूजा मत करना। जो मुझसे प्रेम करते हैं मैं उन पर दया करता हूँ, किन्तु जो मुझसे घृणा करते हैं उन्हें मैं इसका दण्ड देता हूँ, उनकी तीसरी और चौथी पीढ़ी से मैं इसका वदला लेता हूँ।

ईश्वर ने मूसा को आगे आदेश दिया कि सप्ताह का अन्तिम दिन पवित्र दिन है, संसार की सृष्टि करने के वाद उस दिन विश्राम करके मैंने उसे पवित्र वनाया है। उस दिन तुम भी विश्राम करना और मेरा स्मरण करना। अपने माता-पिता का आदर करना। हिंसा मत करना। व्यभिचार मत करना। चोरी मत करना। अपने पड़ोसी के विरुद्ध झूठी गवाही मत देना। लालच मत करना।

हर यहूदी अपने जीवन में ईश्वर के इन आदेशों के पालन का प्रयत्न करता है।

यहूदी जाति के पर्वों में सप्ताह के अंतिम दिन की गणना सवसे पहले की जाती है। इसे ईश्वर का दिन माना जाता है। यह विल्कुल अवकाश का दिन है। यहाँ तक कि इस दिन दासों और घरेलू पशुओं को भी काम से अवकाश दे दिया जाता है। सैवथ या रविवार को कार्य करने वाले को पत्थर मार-मार कर मृत्यु के घाट उतार देने का विधान है। यह दिन पूजा-गृहों में उपदेश और प्रवचन सुनने-सुनाने में या एकदम आराम करने में विताया जाता है। कुछ यहूदियों की ऐसी भी मान्यता है कि इसी दिन यहूदियों ने मिस्र देश छोड़कर हजरत मूसा के नेतृत्व में अपनी मातृभूमि फिलीस्तीन के लिए प्रस्थान किया था। इसलिए इस दिन का यहूदी जाति के लिए ऐतिहासिक महत्त्व भी है।

रविवार के अतिरिक्त कुछ यहूदी सोमवार और वृहस्पति को भी पवित्र

मानते है और उस दिन उपवास या व्रत करते हैं।

यहूदी अपने वर्ष के प्रथम और अंतिम दिन को भी पर्व की भाँति मनाते है। इन अवसरों पर पशुओं की बलि दी जाती है और सामूहिक भोज होता है।

प्रारम्भ में यहूदी मुख्यतः एक खेतिहर जाति थी। इसलिए उसके कुछ त्योहारों का सम्बन्ध फसलों से भी है। उनका मसोथ नामक एक त्योहार इसी प्रकार है। इस दिन फसल के तैयार हो जाने पर जौ की कुछ बालें सृष्टिकर्त्ता ईश्वर को समर्पित की जाती हैं और लोग पारिवारिक या सामूहिक भोज में सम्मिलित होकर नए अन्न का आस्वादन करते हैं।

आजकल यहूदियों का सबसे बड़ा पर्व योम हक्कापुरिम है जिसे वे प्रायश्चित्त का पर्व भी कहते हैं। यह पर्व यहूदी वर्ष के ७वें महीने में ९वें दिन की संध्या से १०वें दिन की संध्या तक मनाया जाता है। पूजा-गृहों की सफाई इस दिन का मुख्य कार्य होता है। फिर बड़े पुरोहित द्वारा एक बैल की बलि दी जाती है और तब लोग खान-पान के उत्सवों में उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं।

वौद्ध धर्म और त्यौहार

वौद्ध धर्म की स्थापना सिद्धार्थ गौतम वुद्ध ने की थी। उनका जन्म ईसा से ५६३ वर्ष पहले हुआ था। उनके पिता का नाम शुद्धोदन था। शुद्धोदन कपिलवस्तु के राजा थे। यह स्थान आजकल नेपाल राज्य में पड़ता है। शुद्धोदन की मायावती और प्रजावती नाम की दो रानियाँ थीं। वहुत प्रतीक्षा के वाद मायावती गर्भवती हुई और उनको स्वप्न हुआ कि उनके गर्भ से महान् पुरुष का जन्म होगा। मायावती अपने पिता के घर जा रही थीं; मार्ग में लुम्विनी नाम के वगीचे में उन्हें पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। वह वैशाखी पूर्णिमा का दिन था। पुत्र का नाम सिद्धार्थ रखा गया। ज्योतिषियों ने उसके शरीर पर वत्तीस शुभ लक्षण देखकर भविष्यवाणी की। वालक एक महान् पुरुष होगा चाहे वह महापराक्रमी सम्राट् वने या विरागी वनकर संसार को शाश्वत सुख का मार्ग दिखाने वाला वने।

सिद्धार्थ के जन्म के सात-आठ दिन के वाद उनकी माता मायावती का देहान्त हो गया। वालक सिद्धार्थ का पालन-पोषण उनकी छोटी मां प्रजावती की देख-रेख में हुआ।

सिद्धार्थ के भविष्य के सम्वन्ध में ज्योतिषियों ने जो भविष्यवाणी की थी उससे महाराज शुद्धोदन को चिन्ता हो गई थी। उनकी इच्छा तो यह थी कि वालक सिद्धार्थ वड़ा होकर महान् सम्राट् वने। यदि ज्योतिषियों की दूसरी भविष्यवाणी सत्य हुई तो सिद्धार्थ विरागी वनकर घर-घर भिक्षा माँगता फिरेगा—यह विचार ही ऐसा था जिसकी कल्पना से शुद्धोदन को महान् कष्ट होने लगा। इसलिए उन्होंने सिद्धार्थ के पालन-पोषण का ऐसा प्रवन्ध किया कि उन्हें दुख का दर्शन ही न हो। उनके लिए सुन्दर, विशाल राजभवन तैयार कराया गया और उसे आराम की सभी वस्तुओं से सुसज्जित कराया गया। सुगन्धित फूलों से गमगमाते हुए उस राजभवन में सिद्धार्थ की सेवा के लिए अनेक नौकर-चाकर रखे गए। उनके चारों ओर रात-दिन सुन्दरी परिचारिकाएँ खड़ी रहतीं। सुख और विलास के वातावरण

में पलकर राजकुमार सिद्धार्थ बड़े होने लगे। राजधर्म के अनुसार उन्होंने युद्ध-विद्या का अभ्यास किया और समय पर उनका विवाह यशोधरा नाम की सुन्दर राजकुमारी से हो गया। थोड़े समय बाद यशोधरा ने एक पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम राहुल रखा गया।

महाराज शुद्धोदन के विचार में सब कुछ ठीक चल रहा था; पर वास्तव में बात ऐसी नहीं थी। सांसारिक राग-रंग और सुख-भोग में सिद्धार्थ का मन आरंभ से ही नहीं लगता था। विराग का बीज उनके मन में जन्म से ही था। बड़े होने पर उनके सामने कुछ ऐसे दृश्य आए जिनसे उनके जीवन की दिशा ही एकदम बदल गई। एक दिन जब वे रथ पर बाहर जा रहे थे, उनके सामने एक वृद्ध पुरुष पड़ा जिसका शरीर इतना जर्जर हो गया था कि वह चल भी नहीं सकता था। सिद्धार्थ करुण नेत्रों से उसे देखने लगे। उनके सारथी चन्ना ने कहा—सब का यही हाल होगा। अत्यन्त उदास मन लेकर सिद्धार्थ घर लौट आए। जब वे दूसरे दिन बाहर निकले तो उन्हें एक रोगी पुरुष का दृश्य दिखाई दिया जो पीड़ा से कराह रहा था। चन्ना ने फिर वही वाक्य दुहराया—कुमार, सब का यही हाल होगा। तीसरे दिन सिद्धार्थ के सामने एक मुर्दे का दृश्य पड़ा और चन्ना ने फिर उसी वाक्य को दोहराया—कुमार, सब का यही हाल होगा।



संसार की यह हालत देख राजकुमार सिद्धार्थ का मन विराग से भर गया। उन्होंने बाहर निकलना बन्द कर दिया। कई दिन तक एकान्त में बैठे वह ...

सोचते रहे कि क्या मनुष्य को वृद्धावस्था, रोग और मृत्यु के दुखों से छुटकारा नहीं मिल सकता ? इस भोग को मनुष्य क्यों भोगे जिसका अन्त इस प्रकार के दुखों में है ? आखिर जीवन में वास्तविक सुख का रहस्य कहाँ है ? क्यों न उस रहस्य का पता लगाया जाय ?

गौतम ने अपने जीवन का लक्ष्य निश्चित कर लिया। एक रात को जब सारा संसार सुख की नींद में सो रहा था, गौतम चुपके से उठे। उन्होंने पास में सोती हुई अपनी स्त्री यशोधरा पर दृष्टि डाली, उसकी गोद में सोते हुए सुकुमार बालक राहुल को देखा। सब को सोते छोड़ वे राजभवन से बाहर निकले और सारथी चन्ना को जगाया। रथ में बैठकर सवेरा होने तक वे नगर के बाहर अनोमा नाम की एक नदी के तट पर जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने अपने सभी वस्त्र और आभूषण उतारकर चन्ना को दे दिए और उसे वापस लौटा दिया। फिर उन्होंने अपने बाल कटा दिए और संन्यासी का भेष बनाकर वे सत्य और जीवन के वास्तविक सुख की खोज में निकल पड़े। संसार के इतिहास में राज-पाट और स्त्री-पुत्र के सुख-त्याग की यह अपने ढंग की सबसे निराली घटना कही जाती है। ऐसे 'महाभिनिष्क्रमण' का मानव जाति के इतिहास में दूसरा उदाहरण नहीं मिलता।

गौतम रात-दिन ध्यान में मग्न रहने लगे, पर उनके मन को शान्ति न मिली। कुछ समय तक वे दूसरों के बताये मार्ग पर भी चले। उन्होंने आडार व उद्धक नामक सन्तों के चरणों में बैठकर धर्मशास्त्र और दर्शन ग्रंथों का अध्ययन किया। किन्तु इससे भी उन्हें ज्ञान का प्रकाश न मिला। इसी बीच मगध के राजा बिम्बसार को गौतम के दर्शन हुए। बिम्बसार पर गौतम के तेज का इतना प्रभाव हुआ कि उसने उनके चरणों पर अपना सारा राज्य रख दिया। पर गौतम तो अपने पिता के राज्य पर लात मारकर सच्चे सुख की खोज में निकले थे। भला उन्हें राज्य-सुख का क्या लोभ हो सकता था ! बिम्बसार की प्रार्थना को ठुकराकर वे आगे बढ़ गए। उनके घर वाले उन्हें खोजते हुए राजगृह के जंगल में पहुँचे जहाँ गौतम अपनी साधना में लीन थे। घर वालों के आग्रह को भी गौतम ने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि जो प्रत्यक्ष रूप में नाशवान है उसकी ओर फिर मैं मुड़ नहीं सकता।

अनेक सन्तों और संन्यासियों से मिलते और उनके उपदेश सुनते हुए गौतम उरुवेला के जंगलों में पहुँचे। वहीं उन्होंने अकेले तपस्या करने का निश्चय किया। छः वर्ष तक वे निरन्तर घोर तपस्या में लगे रहे। यहीं उनकी भेंट पाँच साधुओं से हुई थी। ये पाँचों साधु इस प्रतीक्षा में थे कि गौतम की तपस्याका क्या फल होता है। गौतम का शरीर इतना कमजोर हो गया कि वे चलने-फिरने में असमर्थ हो गए। उनके लिए नदी से जल लाना भी कठिन हो गया। उनको मूर्च्छा होने लगी। एक दिन जब वे इसी प्रकार बेहोश थे, वहाँ एक स्त्री पुत्र-प्राप्ति की खुशी में जंगल के देवता को प्रसाद चढ़ाने के लिए आई। उसका नाम सुजाता था। सुजाता ने देखा

कि जिस देवता को वह खीर चढ़ाने आई है वह तो प्रत्यक्ष बैठे हैं। उसने श्रद्धा से भरकर गौतम को खीर खिलाई। जब उनको थोड़ी शक्ति प्राप्त हुई तो गौतम फिर वटवृक्ष के नीचे बैठकर तपस्या में लीन हो गए। गौतम के इर्द-गिर्द जो पाँच साधु थे, उन्होंने समझा कि उनकी तपस्या भंग हो गई और वे उन्हें छोड़कर चल दिए और वाराणसी में जाकर रहने लगे। इधर गौतम को कमजोर समझकर माया-मोह ने उनके चारों ओर घेरा डाला और उन्हें अपने पथ से विचलित करने के लिए उनमें भूख, प्यास और भोग-वासना जगाने के अनेक प्रयत्न किए। परन्तु गौतम का मन अडिग बना रहा। उन्हें समाधि लग गई और परम प्रकाश का अनुभव हुआ। यह बैशाखी पूर्णिमा का दिन था। कहते हैं कि गौतम की यह समाधि सात दिनों तक लगातार चलती रही। उस समाधि से गौतम ज्ञान के प्रकाश से प्रबुद्ध होकर उठे। तभी से वे बुद्ध कहलाने लगे।

समाधि टूटने पर गौतम ने विचार किया कि जिस सत्य की प्राप्ति उन्हें हुई है संसार के कल्याण के लिए उसका प्रचार करना चाहिए। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर ही तो उन्होंने अपने सारे राजसी सुखों का त्याग किया था। वे बोधि-वृक्ष के नीचे बैठे अभी इन बातों पर विचार कर ही रहे थे कि मल्लिक और तपूस नाम के दो व्यापारियों ने आकर उन्हें प्रणाम किया और उनकी शरण माँगी। कहते हैं वे ही दोनों बुद्ध के प्रथम शिष्य हुए। वटवृक्ष के नीचे से उठकर गौतम बुद्ध अपने दोनों गुरुओं आडार और उद्धक की खोज में गए। किन्तु तब तक उनका देहावसान हो चुका था। इसके उपरान्त वे उन पाँच साथियों की खोज में निकले जो उनको असफल समझकर त्याग चुके थे और जाकर वाराणसी में रहने लगे थे। चलते-चलते गौतम बुद्ध वाराणसी पहुँचे। उन पाँचों साधुओं ने गौतम को आते देखा तो उन्होंने उनकी अवज्ञा करनी चाही। वे उन्हें तपस्या-भ्रष्ट समझते थे। पर गौतम ने उन्हें समझाया। उन्होंने कहा—साधुओ, खीर खाकर मैंने कठोर तपस्या का त्याग अवश्य कर दिया, पर मैं भोगी नहीं बना। मैंने मध्यम मार्ग का अनुसन्धान किया है। सत्य की प्राप्ति न तो भोग से है और न शरीर को घोर कष्ट देने से। दोनों के मध्य से होकर सत्य का मार्ग है, उसे पहचानो।

गौतम बुद्ध के उपदेशों से साधुओं की आँखें खुल गईं। वे उनके शिष्य बन गये। यहीं से गौतम बुद्ध के धर्म-चक्र का प्रवर्त्तन माना जाता है। उनके द्वारा प्रचलित यह धर्म बौद्ध धर्म कहलाया। यह घटना वर्तमान वाराणसी नगर से पाँच मील उत्तर की ओर उस स्थान पर घटी जो सारनाथ के नाम से प्रसिद्ध है। सारनाथ बौद्धों का महत्त्वपूर्ण तीर्थ स्थान है।

सारनाथ में उपदेश करते हुए कुछ दिन बीत गए और गौतम बुद्ध के शिष्यों की संख्या ६० हो चली। तब एक दिन बुद्ध ने सभी शिष्यों को इकट्ठा करके कहा—भिक्षुओ, अब तुम संसार में फैल जाओ और धर्म-चक्र का प्रवर्तन करते हुए मानव जाति का कल्याण करो। मैं भी यहाँ से चलता हूँ।

सारनाथ से लौटकर बुद्ध गया पहुँचे जहाँ उन्हें ज्ञान का प्रकाश मिला था। यहाँ उपदेश देने के बाद वे राजगृह गये। वहाँ उन्होंने मगध-सम्राट् बिम्बसार को अपना शिष्य बनाया। यही उन्हें सारिपुत्त और मौद्गल्यायन नाम के दो शिष्यों की प्राप्ति हुई जिनकी अपने धर्म के प्रति अपार श्रद्धा को देखकर बुद्ध ने कहा कि —ये दोनों मेरे महानतम शिष्य होंगे।

राजगृह से गौतम बुद्ध अपने पिता की राजधानी कपिलवस्तु गए। उनके भिक्षु रूप को देखकर सारा राजपरिवार और जन-समूह भक्ति से अभिभूत होकर अवाक् रह गया। बुद्ध ने अपने माता-पिता, पत्नी के साथ नगरवासियों को उपदेश दिया। सब उनके शिष्य बन गए। अपने पुत्र राहुल को भी उन्होंने संघ में शामिल करके उसे शान्ति के अनुपम साम्राज्य का उत्तराधिकारी बना दिया।

कपिलवस्तु से चलकर गौतम बुद्ध श्रावस्ती पहुँचे। वहाँ जेत वन में रहकर उन्होंने बहुत दिन तक उपदेश किया। यहीं उनकी भेंट प्रसिद्ध डाकू और नर-हंता अंगुलिमाल से हुई थी। उनके आध्यात्मिक तेज के सामने किस प्रकार अंगुलिमाल परास्त हुआ और उनका शिष्य बन गया; यह कथा सभी जानते हैं। वैशाली की प्रसिद्ध वेश्या आम्रपाली की कहानी भी उतनी ही प्रसिद्ध है। बुद्ध के शिष्य आम्रपाली को अपवित्र मानकर उसे बुद्ध का दर्शन करने के लिए अन्दर नहीं जाने दे रहे थे। महात्मा बुद्ध ने यह देखकर कहा—महिला को अन्दर आने दो।

आम्रपाली को अपने रूप का बड़ा अभिमान था। पर गौतम बुद्ध के मुख-मण्डल की आध्यात्मिक आभा के सामने जाते ही वह तेजहत हो गई। वह उनके पैरों पर गिर पड़ी और वहाँ से तब उठी जब महात्मा ने उसकी यह प्रार्थना स्वीकार कर ली कि दूसरे दिन प्रातःकाल वे भिक्षा के लिए उसके द्वार पर जाएँगे। वैशाली के नागरिकों ने उन्हें बहुत मना किया कि गणिका का अन्न ग्रहण करके वे संघ को अपवित्र न करें। पर बुद्ध अपनी बात पर दृढ़ थे। अम्बपाली ने अपना सर्वस्व संघ को दान कर दिया और वह स्वयं भी बुद्ध की शिष्या बन गई।

महात्मा बुद्ध स्त्रियों को उपदेश तो देते थे, उन्हें अपनी शिष्या भी बना लेते थे, पर भिक्षुओं के साथ संघ में रहने की उन्हें आज्ञा नहीं थी। बाद में जब बुद्ध की छोटी माँ प्रजावती ने संघ में शामिल होना चाहा और बुद्ध के प्रिय शिष्य आनन्द ने आग्रह किया कि स्त्रियों के प्रति भेद-भाव मिटा दिया जाय तो बुद्ध ने यह बात मान ली। पर साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि स्त्रियों के संघ में प्रवेश से जो बौद्ध धर्म बहुत दिनों तक जीवित रहने वाला था वह उतना नहीं चल सकेगा। अपने धर्म के प्रचार के लिए महात्मा बुद्ध ने जो संघ बनाया उसके नियम बड़े कठोर थे। उनका पालन वे ही व्यक्ति कर सकते थे जो सांसारिक माया-मोह से ऊपर उठ चुके हों, संयम और ब्रह्मचर्य से रह सकते हों और एकान्त चिन्तन और तपस्या में समर्थ हों। संघ में स्त्रियों के प्रवेश से ये नियम ढीले पड़ने लगे और इस कारण बौद्ध धर्म का रूप बिगड़ने लगा। पर महात्मा बुद्ध के जीवनकाल

में तो सब कुछ ठीक चलता रहा।

८० वर्ष तक महात्मा बुद्ध देश के भिन्न-भिन्न भागों में घूमकर अपने धर्म का प्रचार करते। उनके शिष्यों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती रही। 'बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि' के नारों से देश का दिग्दिगन्त गूंजता रहा। महात्मा बुद्ध के उपदेश इतने सरल और सर्व-ग्राह्य थे कि उनका प्रभाव सुनने वालों पर सहज ही हो जाता था। करुणा और जीव-दया उनके उपदेशों का मर्मस्थल था। जीवों को दुख से छुटकारा कैसे मिले—इसका रहस्य समझाना ही उनका उद्देश्य था। उनका उपदेश था कि दुख से मुक्ति इच्छा का नाश करने से ही हो सकती है। इच्छा का शमन या नाश करने के लिए उन्होंने अष्टपदीय मार्ग बताया—अर्थात् आठ नियमों का जीवन में पूरा अभ्यास कर लेने से ही मनुष्य अपनी इच्छाओं पर वश प्राप्त कर सकता है। ये आठ नियम हैं—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाचा, सम्यक् कर्मान्ति, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति व सम्यक् समाधि। महात्मा बुद्ध द्वारा बताये गए इन सिद्धान्तों को सरल भाषा में यों भी कहा जा सकता है कि जीव हत्या न करो, चोरी से बचो, ब्रह्मचर्य का पालन करो, असत्य का आश्रय न लो, मादक वस्तु का सेवन मत करो, भोजन संयमित रखो, नृत्य आदि उत्तेजक दृश्यों को न देखो, भोग-विलास के चक्कर में न पड़ो, निद्रा और विश्राम पर संयम रखो, धन-संग्रह न करो आदि। इनमें कुछ आज्ञाएँ गृहस्थों के लिए हैं और कुछ भिक्षुकों के लिए।

अपने भ्रमणकाल में महात्मा बुद्ध को अनेक कठिनाइयों का भी सामना करना पड़ा और उनके कई विद्वेषियों ने उनके प्राण ले लेने चाहे। उनके चचेरे भाई देवदत्त भी ऐसे एक षड्यंत्र में शामिल थे। परन्तु गौतम बुद्ध का बाल भी बांका नहीं हुआ। वे बराबर अपने धर्म-प्रचार में लगे रहे।

जीवन के अन्तिम दिनों में वे वर्तमान गोरखपुर जिले के कुशी नगर नामक स्थान में रहने लगे थे। अब उन्हें आभास होने लगा था कि उनका शरीर थोड़े दिन का है। एक दिन उन्होंने अपने शिष्यों से कहा—तीन महीने में मैं शरीर छोड़ दूंगा। उनके शिष्य रोने लगे। महात्मा बोले—इस नश्वर शरीर के लिए क्या रोना है! तथागत का कार्य पूरा हो चुका है।

फिर जिस रात में उनका शरीरान्त हुआ उस दिन भी उन्होंने अपने शिष्यों को बता दिया था कि—आज रात के तीसरे पहर तथागत शरीर छोड़ देंगे। इस समाचार से चारों ओर से उनके दर्शनों के लिए अपार भीड़ उमड़ आई। वे अन्त तक लोगों को उपदेश देते रहे। उनके अन्तिम शब्द थे—भिक्षुओ, सभी वस्तुएँ नश्वर हैं। प्रयत्न करके अपना उद्धार करो।

जिस दिन महात्मा बुद्ध का शरीरान्त हुआ वह वैशाखी पूर्णिमा का दिन था। इसी तिथि को उससे १२० वर्ष पहले उनका जन्म हुआ था और इसी तिथि को ही मृत्यु से ८० वर्ष पहले उन्हें बुद्धत्व की प्राप्ति हुई थी। कहते हैं कि

वैशाखी पूर्णिमा बौद्ध धर्म के मानने वालों के लिए एक बहुत ही पवित्र तिथि बन गई है। इस तिथि को बुद्ध-जयन्ती का पर्व हर वर्ष सारे देश में मनाया जाता है।

महात्मा बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् भी उनके धर्म का प्रचार बढ़ता गया। ईसामसीह की सातवीं शताब्दी तक यह धर्म न केवल भारत में बल्कि भारत के बाहर भी अनेक देशों में फैलकर अपने उत्कर्ष पर पहुँच गया। इस अवधि में अशोक, कनिष्क, हर्षवर्धन आदि कई ऐसे महान् सम्राट् हुए जिन्होंने इस धर्म की अपार सेवा की। अशोक ने बौद्ध भिक्षुओं को संसार के कई देशों में उसका प्रचार करने के लिए भेजा। उसने अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा को भी इस कार्य के लिए श्रीलंका भेजा। वहाँ भी बौद्ध धर्म का सन्देश पहुँचा, लोग उसके अनुयायी बन गये। चीन देश में इस धर्म का प्रचार करने के लिए धर्मपाल, कुमारजीव, नागार्जुन, अश्वघोष, वसुबन्धु, अमोघ वज्र आदि विद्वानों ने अनेक बौद्ध धर्म ग्रंथों का अनुवाद चीनी भाषा में किया। कभी चीन और तिब्बत के अधिकांश निवासी बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। आज भी वहाँ इस धर्म के मानने वाले बड़ी संख्या में हैं तिब्बत तो बौद्ध धर्मानुयायी आज भी है। प्राचीनकाल में फाह्यान, इत्सिंग, युवानच्वांग कई चीनी यात्री भारत में यात्रा पर आए और अपने साथ बौद्ध धर्म का उपहार ले गए। तब नालंदा, विक्रमशिला, मिथिला आदि बौद्ध धर्म के विख्यात विद्यापीठ थे। चीन, तिब्बत के अतिरिक्त जापान, कम्बोडिया, लाओस और वियतनाम में भी बौद्ध धर्म के मानने वाले रहते हैं। इस समय हमारे देश में इस धर्म के अनुयायियों की संख्या अधिक नहीं है, पर संसार के अन्य देशों में सब मिलाकर उनकी संख्या ५० करोड़ से भी अधिक होगी।

हमारे देश की सभ्यता और संस्कृति पर बौद्ध धर्म की अमिट छाप है। हिन्दू लोग इस धर्म को अपने ही धर्म की एक शाखा मानते हैं। वे महात्मा बुद्ध को भी ईश्वर का एक अवतार समझकर उनकी पूजा करते हैं। महात्मा बुद्ध की शिक्षा का सार सत्य, अहिंसा और सदाचार है। महात्मा गांधी ने अहिंसा के अस्त्र से ही हमारे देश को स्वतंत्रता दिलाई। भारत सरकार ने 'सत्यमेव जयते' को अपना सिद्धान्त-वाक्य बना रखा है। सदाचार और आत्मसंयम के महान् आदर्श सदा से हमारे जातीय जीवन के अंग रहे हैं। इसी प्रकार महात्मा बुद्ध की शिक्षाएँ देखा जाय तो हर भारतीय के रग-रग में बसी हैं।

हर वर्ष पूरा देश वैशाखी पूर्णिमा को बुद्ध-जयन्ती बड़े उत्साह से मनाता है। इस अवसर पर संसार के अन्य देशों से भी हजारों बौद्ध यहां आते हैं और सारनाथ, बुद्धगया, कुशीनगर, साँची आदि उन स्थानों की तीर्थ-यात्रा करते हैं जिनका सम्बन्ध महात्मा बुद्ध के जीवन से रहा है। बौद्ध मन्दिरों में स्थापित बुद्ध की प्रतिमा को फूलमाला चढ़ाकर लोग उनकी पूजा करते हैं। कितने ही बौद्ध भिक्षु धर्मग्रंथों के पाठ में लगे दिखाई देते हैं। वैशाखी पूर्णिमा पर्व का महत्त्व इसी में माना जाता है कि हम महात्मा बुद्ध के उपदेशों का स्मरण करें और उन पर चलने का संकल्प लें। □